नमाला

प्रथम रत्न

महर्षि पतंजलि
और
तत्कालीन भारत

चन्द्रमणि,
विद्यालंकार।

महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत
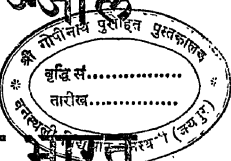
प्रतिष्ठित स्नातक चन्द्रमणि विद्यालंकार
द्वारा-गुरुकुल विश्वविद्यालय की
प्रतिष्ठित स्नातक परीक्षा में
लिखित ।
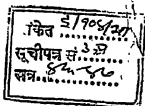
पं० अनन्तराम के प्रबन्ध से
सेठ रामगोपाल पं० अनन्तराम के सद्धर्म्म प्रचारक यन्त्रालय
देहली, में मुद्रित ।

प्रथमावृत्ति १००० { १९७१ वि० १९१४ ई० } मूल्य ।≈)

* ओ३म् *

भूमिका

प्रायः देखा जाता है कि हमारे प्राचीन पुरुषों के धर्म कर्म, रहन सहन, रीतिरिवाज़, सभ्यता आदि के भाग्यों का निश्चय विदेशियों के हाथ में है । जो बात वह लिख दें उसे ब्रह्मवाक्य समझ लिया जाता है चाहे वह अशुद्ध ही क्यों न हो । किसी जाति का प्राचीन इतिहास उतना शुद्ध तथा अच्छा अन्य कोई नहीं बना सकता जितना कि उसी जाति के विद्वान् बना सकते हैं । पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृताध्ययन करके अन्वेषणों द्वारा जो कुछ भारत का प्राचीन इतिहास लिखा है उसके लिये हमें उनका बड़ा कृतज्ञ होना चाहिए और देखा जावे तो वह ही भारतीय इतिहास में जान डालने वाले हैं परन्तु इतने मात्र से हमें निष्क्रिय तथा पुरुषार्थशून्य नहीं हो जाना चाहिये । हमें भी अपने भाग्यों का निश्चय करने में अपनी आवाज़ उठानी चाहिए । हमारा सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य संस्कृत भाषा में है । विदेशी विद्वान् यद्यपि संस्कृताध्ययन करने का बड़ा प्रयत्न करते हैं परन्तु तो भी विदेशी भाषा होने से उनको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है । संस्कृत भाषा के समझने में अनेक त्रुटियें करते हैं जिससे अर्थ का अनर्थ होना सम्भव है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण इस पुस्तक में भी दर्शाया गया है । जातियों का भविष्य बहुत कुछ उनके भूत से बना करता है, परन्तु शोक है कि आर्य-सन्तान का भविष्य बनाने में इतर जाति के लोग तो महान् यत्न करें परन्तु वह आधीरात की गाढ़-निद्रा में पड़े रहें । भारत के

सौभाग्य से अब इस ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्पित हो रहा है। हमने भारत के प्राचीन इतिहास को सम्भवत: अधिक शुद्धतया दर्शाने के लिये यह इतिहास रत्नमाला शुरू की है जिसका पहला रत्न आज आपके हाथों में है। यह अंक महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य के आधार पर लिखा गया है । इसमें महाभाष्य में आई हुई सब घटनायें स्पष्टतया पाठकों के सामने रखने का यत्न किया गया है। व्याकरण जैसे शुष्क विषय के ग्रन्थ से ऐतिहासिक घटनायें दर्शाने का यत्न करना बड़ा कठिन काम है, अतएव इसकी भाषा यद्यपि कहीं कहीं शुष्क रह गई है तथापि आशा है कि आप उसकी ओर दृष्टि न देते हुए असली बात पर ध्यान देंगे।

गुरुकुल कांगड़ी
७ आश्विन १९७१

चन्द्रमणि

ओ३म्
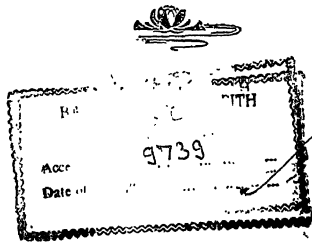
पतंजलि और महाभाष्य ।

शंनो मित्रः शंवरुणः शं विवस्वान् शमन्तकः
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शंनो दिविचराःग्रहाः ।
पावकानः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनी वती
यज्ञं वष्टु धियावसुः ।

भद्रगण ! पतंजलि का विषय इतना गहन और विवादास्पद है कि इसके कालतक में भिन्न २ ऐतिहासिकों के भिन्न २ मत हैं। कई श्रद्धालु पुरुष पतंजलि को बहुत प्राचीन काल में ले जाते हैं, और कई इसे बहुत पास के समय का ठहराते हैं ।

इनकी जीवनी तथा काल को बतलाने के लिये हमारे पास कोई अच्छे साधन नहीं; जो कुछ हैं वह सर्वथा विवाद ग्रस्त हो रहे हैं, या कम से कम विवाद ग्रस्त समझे जाते हैं, और पतंजलि के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य से उस समय के भारतीय इतिहास पर क्या प्रकाश डलता है इस आवश्यक विषय पर भी अभी तक किसी पूर्वीय या पाश्चात्य विद्वान् की कोई पुस्तक नहीं मिलती, अतः उपरोक्त तीन कठिनाइयों के कारण प्रस्तुत विषय पर कुछ विचार करना बड़ा कठिन काम है, अतः इस निबन्ध के लिखने में यदि मेरी कहीं त्रुटियें रह भी जावें तो भी इन से मुझे दोष का भागी नहीं बनाया जा सकता ।

इस निबन्ध में महर्षि पतंजलि के कुछ विचारों तथा उनके जीवन काल का निर्णय करते हुए उस समय की संस्कृत की दशा, विद्यायें तथा पुस्तकें, भारत की भौगोलिक स्थिति, सभ्यता, धार्मिक दशा, तथा सामाजिक स्थिति इन ऐतिहासिक विषयों पर महाभाष्य से जो कुछ प्रकाश डलता है उसे दिखलाने का यथा शक्ति प्रयत्न किया गया है, परन्तु निबन्ध के बहुत लम्बे होने के कारण विस्तार भय से मुझे कई बातें छोड़ देनी पड़ी हैं और जहां तक मेरे से हो सका मैंने सर्वत्र विषयानुसार एक दो आदि के अंक देकर निबन्ध के अति संक्षिप्त होते हुए उसमें जितना स्पष्टी करण हो सकता था उसे पूर्ण करने का यत्न किया है ।

यदि कोई मनुष्य किसी सचाई पर पहुंचना चाहता है तो उसका प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह निष्पक्षपात होकर विचार करे, जो मनुष्य किसी वस्तु को हरा या पीला चश्मा लगाकर देखेगा तो यह आवश्यक समझना चाहिए कि उसे सब सांसारिक पदार्थ हरे और पीले ही दीखेंगे । वस्तुओं का वास्तविक रंग वह कभी न देख सकेगा ।

यदि किसी हमारे मान्य पूर्वज का काल बहुत पास आजावे या प्राचीन काल में प्रचलित ऐसी घटनायें प्रतीत देती हों जो हमारी उच्चता के विरुद्ध हैं तो उनसे काल्पनिक श्रद्धालु भक्तों को घबराना नहीं चाहिए प्रत्युत उन्हें उस श्रद्धा की ऐनक उतार कर घटनाओं का वास्तविक रूप देखना चाहिए और नाहीं यदि किसी तरह उनका काल बहुत प्राचीन सिद्ध हो जावे या प्राचीन प्रचलित घटना चक्र बहुत उच्चतम कोटि का प्रतीत दे तो विदेशियों या उनके अनुयायियों को पछताना चाहिए कि हाय ! वह देश तो अत्यन्त उच्चतम कोटि

के शिखर पर विराजमान था उसे हम कैसे नीचे गिरावें, उन्हें भी ईर्षा और पक्षपात की काली ऐनक उतार कर ही वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना चाहिए।

पतंजलि की जीवनी–पतंजलि की जीवनी के लिये अभी तक हमारे पास कोई भी किसी प्रकार का साधन नहीं जिससे हम कुछ भी कह सकें कि उनकी जीवनी किस प्रकार की थी, उन्होंने कहां शिक्षा पाई और उनका स्वभाव कैसा था इत्यादि, जो कुछ भी उनके जीवन के विषय में कहा जा सकता है वह यही है कि पुष्पमित्र के समकालीन थे जैसा कि मैं आगे जाकर सिद्ध करूंगा, उनका जन्म स्थान गोनर्द देश था और यह गोनर्द आर्यावर्त के पूर्व में स्थिर था जिसकी प्रमाणता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि काशिकाकारादि कई वैयाकरण "एङ्प्राचां देशे, इस सूत्र का उदाहरण गोनर्दीय देते हैं, यह उदाहरण तभी सम्भव हो सकता है यदि गोनर्द प्राग्देश हो, कई विद्वानों का विचार है कि यह गोनर्द उसी स्थान पर था जिसे आजकल गोण्डा कहते हैं और मेरी सम्मति में यह सम्भव भी हो सकता है क्योंकि जहां यह गोनर्द का अपभ्रंश दीखता है वहां यह प्राग्देश भी है, इनकी माता का नाम **गोणिका** था जैसा कि " अकथितं च" इस सूत्र में अपना मत दिखलाने के समय कहते हैं कि " उभयथा हि गोणिका पुत्रः" इनकी मृत्यु के विषय में हम जन श्रुति के अनुसार इतना ही कह सकते हैं कि त्रयोदशी को हुई थी किस मास में, कौन से पक्ष में या कितनी आयु के बाद इन की मृत्यु हुई इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जासकता,भोजराजकृत भोजवृत्ति के मंगलाचरण से स्पष्ट पता लगता है कि एक ही व्यक्ति पतंजलि ने महाभाष्य, योगसूत्र और एक वैद्यक की पुस्तक बनाई थी, यह बात कहां तक सच है इस में हम

निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सके, परन्तु जब हमें इसका विरोधी प्रमाण कुछ भी नहीं मिलता और सातवीं शताब्दि के मध्य में होने वाले भोजराज का प्रमाण मिलता है तो हमें इसके माननेमें संकोच नहीं होना चाहिए कि महाभाष्यकार पतंजलि ने ही योगसूत्र और वैद्यक की पुस्तक बनाई होगी। कई मनुष्यों का विचार है कि चरक पतंजलि का ही नाम है अतः चरक पतंजलि का बनाया हुआ है परन्तु इसमें कहांतक सत्यता है इसपर यहां विचार करना असंगत है।

पतंजलि के विचार—पतंजलि मुनि के वेद के विषय में कैसे विचार थे इसपर महाभाष्य से बहुत कुछ प्रकाश डलता है. वह वेद को ईश्वरकृत् मानते थे परन्तु इस प्रकार न मानते थे जैसे कि आज कल के कई मनुष्य कहा करते हैं कि ईश्वर ने अक्षरशः ऐसे ही वेदों का ज्ञान दिया जैसा कि इस समय पाया जाता है. अथवा यूं कहिये कि वेदों का ज्ञान आनुपूर्वी शब्दों के साथ २ परमात्मा ने ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया. परन्तु पतंजलि का विचार था कि ईश्वर ने केवल ज्ञान मात्र ही ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया और वही नित्य है- वह ज्ञान जैसा इस सर्ग में मिलता है वैसा ही अन्य प्रत्येक सर्गों में मनुष्यों को प्राप्त होता है उस ज्ञान को शब्दों में लाकर क्रमबद्ध भिन्न २ ऋषियों ने किया, अतएव यह क्रमबद्ध शब्द मय वेद अनित्य है यह ईश्वरकृत् नहीं प्रत्युत मनुष्यकृत् है. इस विषय में आर्यसमाज के प्रवर्तक और आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का बिलकुल मत विरोध है. स्वामी जी ने अपनी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में यह लिखते हुए " यथास्मिन्काले वेदेषु शब्दाक्षरार्थ संबन्धाः सन्तितथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च,, स्पष्ट कर दिया है कि वेद जिस स्वरूप में शब्दानुपूर्वी सहित इस कल्प में मिलते हैं वैसे ही अन्य कल्पों में

होते हैं, अर्थात् शब्दानुपूर्वी सहित वेद को ईश्वरकृत् मानते हुए उन को नित्य ठहराया है . परन्तु महर्षि पतंजलि केवल अर्थ को ईश्वर-कृत् या नित्य मानते हैं शब्द को नहीं, शब्दानुपूर्वी को वह मनुष्य कृत मानते हैं जोकि सदा एकसी नहीं रहती, अर्थात् वेदों की शब्दा-नुपूर्वी या शब्दों का स्वरूप प्रत्येक कल्प में ऐसा नहीं होता जैसा कि इस कल्प में पाया जाता है . पतंजलि के कथन से उनका उक्त मत कितना स्पष्ट है उसे मैं उन्हीं के शब्दों में आप के सामने रखना अत्यावश्यक समझता हूं और मुझे निश्चय है कि आप भी उसी असं-दिग्ध परिणाम पर पहुंचेंगे जिसे मैंने दर्शाया है ।

तेनप्रोक्तम् इस सूत्र पर शंका उठाते हुए आप कहते हैं प्रोक्त ग्रहण मनर्थकं तत्रादर्शनात् . प्रोक्तग्रहण मनर्थकम् , किंकारणम् ? तत्र अदर्श-नात् , ग्रामे ग्रामे कलापकं काठकं च प्रोच्यते तत्र अदर्शनात्, नचतत्र प्रत्ययो दृश्यते.ग्रन्थे च दर्शनात्. यत्र च दृश्यते ग्रन्थः स भवति तत्र कृते ग्रन्थ इत्येव सिद्धम्. छन्दोर्थं तर्हीदं वक्तव्यम् , नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानिछन्दांसि. छन्दोर्थं मितिचेतुल्यम् . छन्दोर्थमिति चेतुल्य मेतद् भवति, ग्रामे ग्रामे कलापकं काठकं च प्रोच्यते तत्र . अदर्शनात् नच तत्र प्रत्ययो दृश्यते, ग्रन्थे च दर्शनात् यत्र दृश्यते ग्रन्थः स भवति तत्र कृते ग्रन्थ इत्येव सिद्धम् ननुचोक्तम् नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्या-निछंदांसीति . **यद्यप्यर्थो नित्यः यात्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अ-नित्या तद् भेदाच्चतद भवति,** काठकम् , कालापकम् , मो-दकम् , पैप्पलादकम् इति. नतर्हीदानी मिदं वक्तव्यम् ? वक्तव्यं च. किं प्रयोजनम् ? यत्तेन प्रोक्तम् नचतेन कृतम् माथुरी वृत्तिः यदि त-र्ह्यस्य निवन्धनमस्ति इदमेव वक्तव्यम् तत्र वक्तव्यम् . तदप्यवश्यं वक्तव्यम् यत्तेन कृतम् नचतेन प्रोक्तम् वार रुचं काव्यम् . जालूकाः श्लोकाः (४. ३. १०१)

"**यद्यप्यर्थो नित्यः यात्व सौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या तद् भेदाच्चै तद् भवति**, इन शब्दों पर विशेष ध्यान दीजिए . वह कहते हैं कि यद्यपि वेदों का अर्थ नित्य" है अर्थात् ईश्वरकृत् है परन्तु जो वर्णानुपूर्वी है वह तो अनित्य है मनुष्यकृत् है जो समय २ पर भिन्न होती रहती है . टीकाकार कैयट इसे और भी स्पष्ट कर देता है जब कि वह लिखता है **महा ्लयादिषु वर्णानुपूर्वी विनाशे पुनरुत्पद्य ऋषयः संस्कारातिशयाद्वेदार्थं स्मृत्वा शब्द रचनां विदधतीत्यर्थः** " इस प्रकार पतंजलि के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि उनमें किसी भी प्रकार की जोड़ तोड़ नहीं की जा सकती जिससे हम विश्वासपूर्वक इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि वह वर्णानुपूर्वी सहित वेद को ईश्वर कृत् नहीं मानते थे परन्तु केवल ज्ञान मात्र वेद को ही परमात्मा का दिया हुआ समझते थे ।

II पतंजलि मुनि ऐतिहासिक संप्रदाय के अनुसार **वदों म इतिहास का** समावेश भी मानते थे, "**कक्ष्यायाः सँज्ञायाम् कक्षीवन्तं्य औशिजः, कण्वः कक्षीवान्**"(६. १. ३७) यहां पर संज्ञा अर्थ में वेद मंत्र (ऋ. १. १८. १) का उदाहरण देते हुए वह बताते हैं कि वेद में कक्षीवान् औशिज का नाम है जिसकी दूसरी संज्ञा कण्व है ।

III "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" इस सूत्र में छन्द और ब्राह्मणों को पृथक् २ रखकर पाणिनि मुनि ने इस बात का निर्देश कर दिया था कि वह छन्द यानी वेदों और ब्राह्मणों को भिन्न २ मानते हैं, मंत्र ब्राह्मणयोर्वेद नाम धेयम् के अनुसार वह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद नहीं मानते, यही विचार

महाभाष्य के देखने से महर्षि पतंजलि का भी पाया जाता है, भाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों के उदाहरण देते हुए उन्हों-ने केवल चारों वेदों के चार मंत्रों की प्रतीक दी है ब्राह्मणों में से किसी की भी प्रतीक नहीं दी जिससे पता लगता है कि वह चारों वेदों के शब्दों को ही वैदिक शब्द समझते थे ब्राह्मणादि ग्रन्थों के शब्दों को नहीं, अर्थात् उनके मत में वेद शब्द इन्हीं चार प्रतीकों वाले मंत्र भागों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों के लिये नहीं।

IV. और इसी से फिर यह भी परिणाम निकल आता है कि स्वामी जी के सिद्धान्तानुसार उनके मत में भी केवल वेदों का **ज्ञान** ही नित्य था ईश्वरीय ज्ञान है ब्राह्मण उपनिषदादि ग्रन्थों का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान नहीं प्रत्युत वह मनुष्यों का दिया हुआ ज्ञान है।

२. पतंजलि का स्वर्ग के विषय में क्या मत था इस विषय पर भी बहुत कुछ भाष्य से प्रकाश डलता है, भाष्य में एक स्थान पर वह लिखते हैं "इज्याया: अग्निष्टोमादे: प्रयोजनम् स्वर्गेलोके अप्सरस एनं जाया भूत्वो पशेरते" (६. १. ८४) अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञों का फल यह है कि यज्ञकर्ता को स्वर्ग लोक में अप्सरायें उपभोग के लिये मिलती हैं, एक अन्य स्थान पर कहते हैं नाकमिष्ट सुखं यान्ति सुयुक्तै र्वडवारथै:" (३. १. ४८) अर्थात् इष्ट, सुखका-री स्वर्ग को भली प्रकार जुते हुए बैलों वाले रथों से जाते हैं, इस प्रकार स्पष्ट है कि पतंजलि मुनि भी एक स्वर्ग नामी लोक विशेष मानते थे यहां जाने वालों को भोग के लिये अप्सरायें और रथें मि-लती हैं।

३. महाभाष्य के पढ़ने से यह भी पता लगता है कि इसके कर्त्ता श्रौत सूत्रों के अनुसार यज्ञों में मद्य पान की विधि आवश्यक समझते थे, सौत्रा मणि याग में मद्य पान की निन्दा में किसी आचार्य का यह श्लोक दिया है।

यदु दुम्बर वर्णानां घटीनां मण्डल महत्
पीत न गमयेत् स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत (१.१.१)

अर्थात् ताम्र जैसे रंगवाली बहुत सी मद्य की घटियें पी हुई भी जब पीने वाले को स्वर्ग में नहीं ले जातीं तो यज्ञ में थोड़ी सी मात्रा में पी हुई सुरा उसे कैसे स्वर्ग में ले जावेगी, फिर पतंजलि मुनि उसका खण्डन इतने कठोर शब्दों में करते हैं कि वह यहां तक बढ़ गये कि प्रमत्तगीत एप: तत्र भवतो यस्त्व प्रमत्तगीत स्तत्प्रमाणम् के शब्द कह कर यज्ञ में सुरा पान की हंसी करने वाले को प्रमत्त मनुष्य ठहरा दिया, इन प्रबल शब्दों में कहे हुए उत्तर से स्पष्ट पता लगता है कि वह सौत्रा मणि याग में सुरा पान आवश्यक समझते थे।

पाठक गण! पतंजलि के जीवन तथा विचारों के विषय में जो कुछ मुझे पता लगा वह मैंने आपके सामने रख दिया **अब इन के काल के विषय** में कुछ विचार करना है।

द्वितीय निश्वास ।

काल निर्णय—कई ऐतिहासिकों की ऐसी प्रवृति होती है कि यदि कहीं किसी मनुष्य या पदार्थ का केवल नाम आ जाता है तो वह झट उन्हीं के आधार पर अपने बड़े २ परिणाम निकाल कर एक वड़ा विशाल भवन वनाने को कटिवद्ध हो जाते हैं, परन्तु दूसरी ओर ऐसे भी महाशय हैं जो नामों से इतना घवराते हैं कि यदि उनसे कुछ सहायता मिलने की संभावना भी हो तो भी उसकी कुछ परवाह नहीं करते और यदि करते भी हैं तो रंगदार चश्मा पहनने के कारण वहीं तक करते हैं यहां तक कि उनकी मनोवांच्छा या उनका काल्पनिक विचार सिद्ध या पुष्ट होवे, यदि उनके मत के प्रतिकूल कोई परिणाम निकले तो उसे स्वीकृत करने को वह कदापि तय्यार नहीं होते। ऐतिहासिक सच्चाईयों पर ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक प्रकार की वैज्ञानिक सच्चाईयों पर भी पहुंचने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि हम **घटनाओं को देखकर उनसे जो परिणाम निकल उन्हें परिणाम समझें,** परन्तु यह लोग उलटा पहले कोई काल्पनिक सिद्धान्त मन में जमा लेते हैं और फिर उसके अनुकूल जो २ घटनायें मिलें उन्हें तो लेते जाते हैं और जो प्रतिकूल मिलें उन्हें छोड़ते जाते हैं या उसका किसी न किसी प्रकार से— चाहें वह ठीक हो या वुरा— खण्डन करने का सिरतोड़ प्रयत्न करते हैं, किसी ऐतिहासिक सच्चाई के ढूंडने का यह प्रकार इतना वुरा और इतिहास के महत्व को घटाने वाला है कि जो किसी वास्तविक परिणाम पर पहुंचाने की अपेक्षा मनुष्यों को इधर उधर पगडण्डियों पर घुमाता रहता है, यह बात सच है कि हमें **केवल नामों** के आधार पर

अपने भवन कभी नहीं वनाने चाहियें परन्तु यह भी कोई बुद्धिमत्ता की बात न होगी कि यदि नामों से कुछ थोड़ी वहुत सहायता भी मिले तो उससे हम विलकुल कुछ भी लाभ न उठावें और फिर यदि उन नामों को परिमित या सीमावद्ध करने वाले कुछ विशेषण भी मिल जावें तो उन नामों को केवल नामों की तरह नहीं देखना चाहिए प्रत्युत उन्हें किसी प्राचीन इतिहास निर्माण का बड़ा भारी अंग या साधन समझना च हिए।

क्या आप गंगा तटवर्ती कांगड़ी ग्राम में स्थित गुरुकुल, दशरथ का आज्ञाकारी पुत्र रामचन्द्र, आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द, बौद्ध-मत के संचालक वुद्ध, वेदान्त मत के प्रचारक शंकराचार्य इनसे किसी वास्तविक परिणाम पर नहीं पहुंच सक्ते? मैं विश्वास पूर्वक कहूंगा कि अवश्य पहुंच सक्ते हैं। संक्षेपतः भारत की प्राचीन घटनाओं का काल निर्णय करते समय हमें दो वातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए.

i प्रथम यह कि पक्षपात से काम न लिया जावे.

ii और दूसरा केवल नामों से किसी परिणाम को निकालना और विशेषण युक्त या परिमित नामों से यदि कुछ परिणाम निकल सकें तो उन्हें काम में न लाना यह दोनों पक्ष अपनी२ सीमा पर पहुंचे हुए हैं अतः इनको छोड़कर **परिमित नामों से यदि कोई परिणाम मिले तो उसका अवश्य आदर करना चाहिए,**

पतंजलि का काल पता लगाने के लिये हमारे पास उनके वनाये हुए महाभाष्य के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं, महाभाष्य के पाठ से हमें पता लगता है कि महाभाष्यकार पतंजलि प्रसिद्ध

राजा पुष्पमित्र के पहले के नहीं प्रत्युत उसके समकालीन थे, इस में प्रमाण यह हैं:—

१ भाष्य में स्थान २ पर पाण्डवादिकों का वर्णन आने से इसमें तो किसी को भी सन्देह नहीं होगा कि भाष्यकार **पतंजलि महाभारत युद्ध से अवश्यमेव पीछे हुए हैं,** उदाहरण के तौर पर तीन चार प्रमाण मैं पाठकों के सामने रखता हूं.

i वृष्णि वंश वालों के उदाहरण वसुदेव, बलदेव, दिये हैं जिन में से प्रथम कृष्ण का पिता और द्वितीय कृष्ण का भाई था, (४–१–११४)

ii कुरुवंशियों क उदाहरण भीम, नकुल, सहदेव, दिये हैं, (४–१–११४)

iii भ्रातुश्चज्यायसः का उदाहरण युधिष्ठराजुनौ देते हुए बड़े भाई युधिष्ठिर को पूर्व रक्खा है, (२–२–३४)

iv कंसवध नाटक खेलते हुए कंस का वध किया जाता है जिसे कृष्ण ने मारा था (३–१–२६)

v कंस और कृष्ण के प्रहार चित्रों में दिखाये जाते हैं (३–१–२६)

इन पांच प्रमाणों से स्पष्ट है कि पतंजलि मुनि युधिष्ठिरादि पांडवों से बहुत पीछे हुए हैं.

२ "येषांच विरोधः शाश्वतिक इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम्" (२–४–१२) यहां पर जिनका सांप और नेऊले की तरह शाश्वतिक या नित्यविरोध हो उसका उदाहरण श्रमण ब्राह्मणम् दिया है. परन्तु श्रमण शब्द संस्कृत साहित्य में केवल एक विशेष श्रेणी के सन्यासियों के लिये आता है जोकि बौद्ध सन्यासी थे. इस की पुष्टि सब संस्कृत भाषा के कोष एकमत होकर करते हैं, मेदिनी श्रमण

का अर्थ यतिविशेष, वाचस्पत्य यतिभेद, तथा शब्द कल्पद्रुम बौद्ध सन्यासी देता है, और इतिहास भी हमें यही बताता है कि श्रमण शब्द विशेषतः बौद्धकाल से ही प्रचलित हुआ.

अतः स्पष्ट पता लगता है कि **पतञ्जलि का काल बौद्धमत के अच्छी तरह प्रचार हो जाने के बाद ही होना चाहिए,** यदि केवल श्रमण शब्द ही आता तो शायद हम किसी निश्चयात्मक परिणाम पर न पहुंच सकते परन्तु **श्रमणों और ब्राह्मणों** का **शाश्वत विरोध** दिखाने से हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि निःसन्देह यह श्रमण अवश्य ही बौद्धमत के प्रचारक श्रमण थे और उन्हीं का ब्राह्मणों से बहुत बढ़ा हुआ वैर था जो कि अभी तक यहां तक चला आता है कि वह परस्पर में एक दूसरे को मारने तक के लिए तय्यार हो जाते हैं, इस विरोध का कारण भी स्पष्ट है जब कि बौद्ध **ब्राह्मणों के धर्म के कट्टर शत्रु थे।**

३–पाटलि पुत्र का नाम महाभाष्य में स्थान २ पर बारम्बार आया है, यहां कहीं किसी सूत्र या वार्तिक का उदाहरण देना होता है वहां पाटलि पुत्र का नाम आजाता है, सारे महाभाष्य में अन्य किसी भी नगर का नाम इतनी अधिक वार नहीं आया जितना कि पाटलि पुत्र का आया है, यदि मैं उनकी गणना करने बैठूं तो शायद ३० या ४० से कम वार नहीं आया होगा, पाटलि पुत्र को परिमित करने वाले जो शब्द आये हैं उन पर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना भी आवश्यक है।

I नगर का उदाहरण मथुरा पाटलिपुत्रम् दिया है (२–४–७)

II अनुशोणं पाटलिपुत्रम् (२. १. १६)

III काशिकाकार ने प्राचांग्रामनगराणां इस सूत्र के प्राग्देश भव नगरों के उदाहरणों में पाटलिपुत्र का भी उदाहरण दिया है ।

IV पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोशला (४. ३. ६ ६)

I पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः (४. ३.१३२)

II राज्ञः पाटालिपुत्रकस्य (२. २. ११)

इस प्रकार पाटलि पुत्र के वारम्वार आने तथा उपरोक्त उल्लेखों से हम निम्न लिखित पांच परिणामों पर पहुंचते हैं ।

(क) पाटलि पुत्र नगर था ।

(ख) यह नगर शोणनदी के समीप स्थित था ।

(ग) भारत के पूर्वीय प्रदेश में इस नगर की स्थिति थी.

(घ) यह केवल साधारण नगर ही न था प्रत्युत उस समय के भारतीय प्रसिद्ध नगरों में से एक और अत्यन्त प्रसिद्ध प्रदेश था ।

(ङ) पाटलि पुत्र उस समय राज धानी बना हुआ था ।

अब आप ज़रा इतिहास की ओर अपनी दृष्टि ले जाइये और उपरोक्त पांच परिणामों की क्रमशः परीक्षा कीजिए . इतिहास हमें वताता है कि लछावि वंश को जीत लेने के पश्चात् गंगातटवर्ती पाटली ग्राम में अजात शत्रु ने जिसने कि ४९०—४५९ ई० पू० राज्य किया था—एक किला बनाया . परन्तु वह अभीतक ग्राम ही था नगर नहीं बना था . पुनः उसके पौत्र उदय ने—जिसका राज्य काल ४३४—४०१ ई० पू० तक ३३ वर्ष का था—उसी पाटली ग्राम के स्थान पर गंगा और शोण नदी के संगम पर पाटलि पुत्र नामी नगर बसाया जोकि शोण नदी के उत्तरीय तटपर और गंगा नदी से

कुछ मील की दूरी पर था . इसके आगे प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्मिथ साहब बताते हैं कि इस पाटलि पुत्र का स्थान वही है यहां आज कल पटना और बांकीपुर स्थित हैं परन्तु गंगा और शोण नदियों का मार्ग कई शताब्दियें पहले ही बदल गया था जिससे उसका संगम आजकल पटना से लग भग १२ मील ऊपर दीनारपुर छावनी के समीप है (११४ पृष्ठ)

इस प्रकार पाटलि पुत्रका नगर होना, उसका शोण नदीके समीप स्थित होना, तथा उस नगर का भारत के पूर्व में होना इन उपरोक्त पहली तीन घटनाओं का उदय स्थापित पाटलि पुत्र नगर से मेल होने के कारण हम कह सकते हैं कि महा भाष्य में वर्णित पाटलिपुत्र वही पाटलि पुत्र है जिसकी स्थापना अजातशत्रुके पौत्र राजा उदय ने की थी अतः पतंजलि का समय उदय से पीछे अर्थात् ४०१ ई० पू० से पश्चात् का होना चाहिए ।

अब आप पिछले दो परिणामों की तरफ आइये, भारतवर्ष की ऐसी दशा में जबकि यहां एक देश से दूसरे देश में आने जाने का कोई सुगम साधन उपस्थित न हो और केवल घोड़ा बैल आदि पशु ही आने जाने के साधन प्राप्त हों जिसके कारण मनुष्य अन्य देशों के मनुष्यों से गहरा सम्बन्ध न रखते हों किसी नवीन स्थापित नगर की प्रसिद्धि के लिये जिससे प्रत्येक स्थान में उदाहरण स्वरूप से दिया जा सके कितने काल की आवश्यकता है यदि हम इसके लिये एक शताब्दि का भी काल रक्खें तो शायद *अधिक न होगा, फिर पाटलिपुत्र राजधानी मौर्य वंश से बनी थी जिसका आदि पुरुष महाराजाधिराज चन्द्र गुप्त था, चन्द्र गुप्त का राज्य ३२१ ई० पू० से प्रारम्भ हुआ था अतः उसने यदि प्रथम वर्ष*

ही राजधानी बनाली हो तो भी पिछले दो परिणामों से हमें यही मानना पड़ता है कि पतंजलि मुनि ३२१ ई० पू० से भी पीछे हुए हैं।

I यहां पर कई विद्वानों का मत है कि महाभाष्य में तो पाटलिपुत्र का वर्णन शोण नदी के समीप आया है परन्तु मुद्राराक्षस में—जोकि चन्द्रगुप्त के समय का बना हुआ है—" स्वयमेव सुगाङ्ग प्रासाद शिखरगतेन देवेनालोकित मप्रवृत्त कौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम" (३ अंक) इस स्थान पर पाटलिपुत्र के नामान्तर कुसुमपुर की स्थिति गंगातट पर बता है अतः नदियों का मार्ग बदलने के पूर्व चन्द्रगुप्त से पहले ही पतंजलि हो चुके थे.

शोक है कि ऐसे विद्वानों की इस युक्ति में इतनी निःसारता और युक्ति शून्यता पाई जाती है कि उसका कुछ उत्तर देना भी मेरे लिये शोभा नहीं देता.

(क) पहले यदि आप स्मिथ के इतिहास को ही देखलें तो वह चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र की स्थिति नहीं बताता है जोकि उदय के समय थी, अर्थात् जब चन्द्रगुप्त के समय तक अभी नदियों का मार्ग नहीं बदला था, तो उन की युक्ति का आधार ही निर्मूल हो जाता है।

(ख) दूसरा, यह उनकी कल्पना ही है कि मुद्राराक्षस नाटक भी तभी बनाया था जब कि चन्द्रगुप्त राज्य करता था, परन्तु सब ऐतिहासिक इस नाटक को ६ ठी शताब्दि का बना हुआ मानते हैं।

(ग) तीसरा, ऐतिहासिक हमें बताते हैं कि पाटलिपुत्र शोण और गंगा के तट पर था उसे चाहे आप शोण के तट पर उत्तर की ओर कहदें चाहे गंगा के तट पर दक्षिण की ओर कहदें बात एक ही है ।

ii कई विद्वान् इस युक्ति पर भी बड़ा बल देते हैं कि पाणिनि के सूत्र " निर्वाणोडवाते ,, पर भाष्य करते हुऐ बौद्धों के प्रसिद्ध निर्वाण के विषय में पतंजलि ने कुछ भी नहीं लिखा है जिससे परिणाम निकलता है कि महाभाष्य बौद्ध धर्म के अच्छी तरह प्रचार होने से पहले ही बनगया था अर्थात् काला शोक की द्वितीय महासभा से बहुत पहले ४५० ई० पू० के लगभग पतंजलि मुनि ने भाष्य बनाया।

इस युक्ति का उत्तर मैं कुछ नहीं देता आप ज़रा उन्हीं की युक्तियों की तरफ ध्यान दें। ४३४-४०१ ई० पू० तक तो उदय ने राज्य किया और उसी काल में पाटलिपुत्र नगर बना परन्तु आप उसी पाटलिपुत्र की युक्ति को महा भाष्य काल सिद्ध करने में देते हुए पतंजलि का समय उस नगर की सत्ता से भी कम से कम १६ वर्ष पहले ठहराते हैं जो कि असम्भव को सम्भव करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है या अपने ही हाथों से अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने की कहावत चरितार्थ करना है।

III एक तीसरे पक्ष वाले जो महर्षि पतंजलि को बौद्ध भगवान् से भी बहुत पहले ठहराने के पक्ष में उसी निर्वाण की बड़ी बलवती तथा अकाट्य युक्ति देते हैं मैं समझता हूं कि वह भी बहुत कुछ भूल कर जाते हैं।

(क) एक तो यह कि जब हमें **इस पक्ष की विरोधी तथा दूसरे पक्ष की पोषक बहुत सी युक्तियें मिल जाती** हैं तो हम इससे केवल एक युक्ति के आधार पर अन्य सब युक्तियों की कैसे उपेक्षा कर सकते हैं, और जब कि वह युक्ति भी स्पष्टतया अन्य युक्तियों से विरोध नहीं करती प्रत्युत उदासीनता दिखाती है।

(ख) और दूसरा यदि महाभाष्य को ध्यान पूर्वक पढ़ा जावे तो स्पष्टतया इस बात का परिचय मिल जाता है कि यहां बौद्धों के निर्वाण शब्द के विषय में कुछ कथन करना संगत ही न था, इस बात की सिद्धि के लिये निर्वाणोऽवाते के सारे भाष्य को दिखाना आवश्यक जान पड़ता है, अतः उसे ज्यूं का त्यूं लिखा जाता है जो कि यह है:—

"अवाताभिधाने, अवाताभिधाने इतिवक्तव्यम् इहापि यथास्यात् निर्वाणोऽग्निर्वातेन, निर्वाणः प्रदीपोवातेन,, (८. २. ५०) अर्थात् निर्वाणोऽवाते यहांपर अवाते के स्थान पर अवाताभिधाने (निर्वाण शब्द जब कि वात यानी वायु को न कहने वाला हो) यह बोलना चाहिए, जिससे निर्वाणोऽग्निर्वातेन (अग्नि वायु से बुझगई) निर्वाणः प्रदीपोवातेन (दीपक वायु से बुझ गया) यह रूप भी सिद्ध हो जावें क्योंकि यदि अवाते इतना ही रक्खें तो वात परे होने पर "त" को नत्व न हो यह अर्थ होगा, परन्तु उपरोक्त दोनों उदाहरणों में वात परे हैं अत: उनमें भी तकार को नत्व न होकर निर्वातोऽग्निर्वातेन, निर्वातः प्रदीपोवातेन यह रूप बन जावेंगे; परन्तु अवाताभिधाने कहने से यत: निर्वाण शब्द इन उदाहरणों में वायु के अर्थ को बताने वाले नहीं अत: इनमें तकार को नत्व हो जाता है ।

अब इससे स्पष्ट होगया होगा कि बौद्धों के निर्वाण शब्द का यहां उदाहरण देना कैसे असंगत है. भाष्यकार को यहां वही उदाहरण देने चाहिए जोकि अवाते में दोष दिखाते हुए अवाताभिधाने का प्रयोजन बतावे, वह तभी हो-सकता था जब कि वात शब्द आगे पड़ा हुआ हो. निर्वाणो भिक्षुः का यदि उदाहरण देते तो यह तो

अथातो ही से सिद्ध हो सकता था अयाताभिधाने कहने का क्या प्रयोजन होता ।

(ग) और फिर तथापि यथा स्यात् कहते हुए भाष्यकार बताते हैं कि ऐसा भी कोई उदाहरण है यहां वात शब्द परे नहीं, वह उदाहरण केवल निर्वाणो भिक्षुः ही होसकता है अन्य नहीं इससे ग्रन्थ कर्त्ता ने अवान्तर रूप से निर्वाण शब्द का बौद्धों की मुक्ति अर्थ में निर्देश भी कर दिया है ।

४. नवान्हिक में पतंजलि लिखते हैं जित्पर्याय वचनस्यैव राजाद्यर्थम् जिन्निर्देशः कर्तव्यः ततोवक्तव्यम् पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति. किं प्रयोजनम् ? राजाद्यर्थम् सभाराजाऽमनुष्य पूर्वा इन सभम्, ईश्वर सभम्. तस्यैव न भवति राज सभा. तद्विशेषाणां च न भवति पुष्पमित्र सभा. चन्द्र गुप्त सभा.. (१. १. ६८) ।

उपरोक्त उल्लेख मे चार परिणाम स्पष्ट निकलते हैं ।

I पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त नामी दो विशेष व्यक्ति थे, अर्थात् यह नाम काल्पनिक नहीं परन्तु वास्तविक हैं ।

II यह दोनों व्यक्ति राजा थे और केवल साधारण राजा ही न थे प्रत्युत बड़े प्रसिद्ध राजा थे और अतएव उनके नाम दिये जा सकते हैं ।

III राम, दशरथ, युधिष्ठिरादि राजाओं के नाम जो भारत के प्राचीन इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और अबतक जिनसे प्रत्येक भारतीय बच्चा परिचित है उनको प्रयुक्त न कर रामसभा, दशरथ सभा, युधिष्ठिर सभा के स्थान पर जो पुष्प मित्र सभा, चन्द्र गुप्त सभा का प्रयोग दिया है उससे यह भी स्पष्ट है कि उक्त दोनों राजा पतंजलि के पास २ के समय के होने चाहिये ।

IV और फिर यह राजा प्राच्य देश के ही होने चाहिये या कम से कम ऐसे होने चाहिये कि जिन का राज्य वहां भी हो. क्योंकि प्राग्देशवासी पतंजलि के लिये देश देशान्तरों का संबन्ध सुगम न होने के कारण सब से पूर्व अपने घरके राजाओं का उल्लेख करना ही आवश्यक था.

इन चार परिमाणों को लेकर जब हम देखते हैं तो हमें पता लगता है कि बौद्ध काल में प्रसिद्ध पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त के सिवाय अन्य कोई प्राच्य वा प्राच्य देश में स्थापित राज्य वाला प्रसिद्ध राजा नहीं हुआ जिस की हम **कल्पना भी** कर सकें. और जब हमें अन्य भी कुछ प्रमाण इस के बौद्धकाल में होने के मिलते हैं तब तो इस में कोई सन्देह ही नहीं रहजाता कि नवान्हिक में वर्णित पुष्प मित्र, चन्द्रगुप्त राजा अवश्यमेव वही राजा थे जिन्हों ने क्रमशः १८४–१४८ ई० पू० तथा ३२१–२९७ ई० पू० तक राज्य केवल मगधदेश में ही नहीं किया प्रत्युत प्रायः सारे भारतवर्ष के महाराजाधिराज और सम्राट् थे जिन में से प्रथम ने संग वंश की स्थापना की और दूसरे ने मौर्य वंश की नींव डाली. अतः स्पष्ट है कि **पतंजलि ने १८४ ई० पू० तक भी अभी भाष्य नहीं बनाया था.**

यहां पर मुझे त्रास फैलाने वाले पक्षावलम्बियों के कुछ आक्षेपों की समालोचना करनी आवश्यक है.

I (क) वह कहते हैं कि जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त नामों की कल्पना पतँजलि ने अनेक स्थलों पर की हैं उसी प्रकार पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त नाम भी काल्पनिक हैं. क्योंकि हमें इतिहास बतलाता है कि चन्द्रगुप्त पुष्पमित्र से पूर्व हुआ है अतः आवश्यक था कि चन्द्रगुप्त का नाम पुष्पमित्र से पहले देते परन्तु यहां हमें

विपर्यय दीखता है अतः यह वह प्रसिद्ध महाराज नहीं परन्तु काल्पनिक मनुष्य है.

(ख) दूसरी युक्ति वह यह देते हैं कि राज तरंगिणी में काश्मीर के राजाओं की नामावली में अभिमन्यु के विषय में लिखा है

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशात्तस्मात्तदागमम् ।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वञ्च व्याकरणं कृतम् (१. १७६)

इसी प्रकार भर्तृहरिकृत् महाभाष्य की टीका रूप वाक्यपदीय पुस्तक में लिखा है.

यः पतंजलिशिष्येभ्यो भ्रष्टोव्याकरणागमः ।
कालेनदाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रेव्यवस्थितः (२. ४८८)
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
सनीतो बहुशाखात्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः (२. ४८९)

अर्थात् काश्मीर के राजा अभिमन्यु के समय चन्द्राचार्यादि वैयाकरण विलुप्त महाभाष्य को दक्षिण से ढूंडकर पुनः काश्मीर में लाये और उसका प्रचार किया. परन्तु प्रिन्सप साहब ने अभिमन्यु का राज्यारम्भ १०० ई० पू० ठहराया है अतः ईसा से १०० वर्ष पूर्व महाभाष्य का पुनः प्रचार हुआ था. इस महाभाष्य को प्राग्देशों में विलुप्त होने के लिये तथा उस समय जैसी भारत की अवस्था में पूर्व से दक्षिण में उस का प्रचार होने के लिये कम से कम दो सदियों की आवश्यकता है, परन्तु पुष्पमित्र का राज्य तो १८४ ई०. पू० में ही था अतः स्पष्ट है कि महाभाष्य में वर्णित पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त के नाम काल्पनिक ही होने चाहियें. इस युक्ति से वह इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि महाभाष्य चन्द्रगुप्त से पूर्व का अर्थात ३२१ ई० पू० से पूर्व का बना हुआ है.

अब आप दूसरी तरफ भी ध्यान दीजिये और देखें कि इस में किस प्रकार पक्षपात की बेड़ियों से बंधकर और विचारणा शक्ति को ताला लगाकर काम लिया गया है.

(क) I आप कहते हैं कि पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त नाम देवदत्तादि नामों की तरह काल्पनिक हैं परन्तु यदि आपने महाभाष्य को ध्यान पूर्वक देखा होता तो प्रथम तो आप यही पाते कि वहां यह भी लिखा हुआ है कि **तद् विशेषाणां च न भवति**, अर्थात् यदि विशेष राजा सभा के पूर्व हों तो नपुंसकलिंग नहीं होता.

ii और फिर आप महाभाष्य को आद्योपान्त पढ़ जावें तो आप बड़े आश्चर्य से यह बात स्पष्ट पावेंगे कि यहां कहीं भाष्यकार काल्पनिक या सामान्य रूपेण किसी पुरुष का नाम किसी उदाहरण में देते हैं तो सदा **देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्रह्मदत्त, विष्णुमित्र इन चार नामों में से ही** किसी का प्रयोग करते हैं, इन चार नामों के अतिरिक्त अन्य किसी नाम का प्रयोग सामान्य रूप से आप महा भाष्य भर में कहीं नहीं पावेंगे अतः केवल इस स्थान पर पुष्पमित्र, चन्द्रगुप्त काल्पनिक नाम कैसे हो सक्ते हैं जब कि तद्विशेषाणांचनभवति भी दिया हुआ हो.

iii जब कोई मनुष्य किसी बात का दृष्टान्त देने लगता है तो जिस बात से उसका बहुत संबन्ध हो या जिस को किन्हीं कारणों से वह अन्य बातों से विशिष्ट पाता हो या जो बात सदा उस के सामने रहती हो तो सब से पहले वह उसी का उदाहरण देता है इसी प्रकार यतः पतंजलि पुष्पमित्र के समय उपस्थित थे जो कि एक बड़ा प्रसिद्ध सम्राट था अतः उन्हों ने राजाओं के नाम देते हुए पहले पुष्पमित्र का नाम दिया पीछे चन्द्रगुप्त का

इस प्रकार जो पुष्पमित्र को पूर्व तथा चन्द्रगुप्त को पीछे लिख-ने का आक्षेप किया जाता है वह इस मनोविज्ञान के सिद्धान्ता-नुसार खण्डित हो जाता है.

यहां पर एक तीसरे पक्ष वाले चन्द्रगुप्त, पुष्पमित्र को काल्प-निक तो नहीं मानते परन्तु वह यह कहते हैं कि शायद यह अन्य किन्हीं प्राचीन राजाओं के नाम हों. ऐसे विचारकों के लिये यही कह देना पर्याप्त होगा कि यदि यह नाम अन्य किन्हीं प्राचीन रा-जाओं के नाम होते तो क्या संभव हो सक्ता है कि उन के नामों का उल्लेख रामायण, महाभारत जैसी कोषमय पुस्तकों में न आवें ? परन्तु इन दोनों पुस्तकों में इन नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता, अतः उन की कल्पना विना किसी आधार के ही भवन वनाना चाहती है.

(ख) I अभिमन्यु का काल प्रिन्सपही के कथनानुसार १०० ई० पू० में लेने के लिये आपके पास क्या प्रमाण है ? लैसन का ४० और ६५ ईस्वी के अन्दर का क्यों न लिया जावे ?

II और फिर महाभाष्य के लोप तथा दक्षिण में प्रचार के लिये कम से कम दो शताब्दियों की क्यों ज़रूरत है ? उन दिनों प्रेस तो होते नहीं थे पुस्तक हाथों से लिखी जाती थीं अतः उसका शीघ्र दुष्प्राप्य होना संभव ही है ।

III और यह ठीक है कि उस समय एक देश को दूसरे देश के साथ संवन्ध करने के लिये सुगम साधन उपस्थित नहीं थे परन्तु इसका यह मतलव विलकुल नहीं कि एक देश वासियों का दूसरे देश वासियों से वहुत ही दुर्गम संवन्ध था ।

संभव हो सकता है कि किसी पतंजलि के शिष्य दाक्षिणात्य या प्राच्य ही ने दक्षिण में जाकर उसी समय या कुछ काल के पश्चात महाभाष्य का प्रचार कर दिया हो।

सारांश यह है कि हम ऐसी थोथी युक्तियों से किसी परिणाम पर नहीं पहुंच सके।

IV राज तरंगिणी में साथ यह भी लिखा है कि **अभिमन्यु कनिष्क से अगला राजा था** परन्तु अभी कनिष्क के काल में ही बड़े २ मत भेद हैं, कोई ईसा से ४० वर्ष पश्चात् ठहराता है कोई ५७ वर्ष पूर्व, और स्मिथ साहब इसे और भी पीछे १२० ईस्वी में बताते हैं, परन्तु गत वर्ष के लण्डन की रायलएशियाटिक सोसाईटी के प्रसिद्ध पत्र जरनल के अनुसार अभी तक कनिष्क का राज्यकाल ४० ईसाब्द ही प्रामाणिक समझा जाता है, अतः अभिमन्यु का काल लासेन के अनुसार इस से भी पीछे चले जाने से पुष्प मित्र से अभिमन्यु तक लगभग २०० वर्षों का अन्तर हो ही जाता है, अतः इस बड़े भारी अन्तर में महाभाष्य के लुप्त होने के लिये केवल पर्याप्त ही समय नहीं प्रत्युत पर्याप्त से भी बहुत अधिक है। इससे सिद्ध होगया भाष्य पुष्पमित्र से भी पहले नहीं बना था।

V कई विचारकों का कथन है कि विजेता अलेग्जेन्डर ने जो ३२७ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था उसमें उसने सांकल देश को विध्वस्त कर दिया था, अतः भाष्यकार को "संकलादिभ्यश्च" इस सूत्र में यह अवश्य कहना चाहिए था कि सांकल देश अब नष्ट होगया है, परन्तु उन्हों ने नहीं कहा अतः पतंजलि का समय सिकन्दर से पूर्व होना चाहिए।

I शोक है ऐसे ऐतिहासिक विचारकों पर जो इस प्रकार की थोथी और निःसार युक्तियों के आधार पर अपने किसी मत को पुष्ट या सिद्ध करना चाहते हैं. पतंजलि पाणिनि व्याकरण पर भाष्य करने बैठे थे ना कि किसी इतिहास को लिखने का उद्देश्य उनके सामने था। जब पतंजलि ने **"संकलादिभ्यश्च,, इस सूत्र का भाष्य ही करना अनावश्यक या सुगम समझ कर छोड़ दिया** तो हमारे मनमें यह शंका कैसे उठ सकती है ? क्या पतंजलिजी केवल सांकल देश का वृत्तान्त बताने के लिये उस सूत्र का भाष्य बना देते ?

क्या आप कभी कह सकते हैं कि मैं विज्ञान की तो पुस्तक लिखने बैठूं परन्तु उसमें न्यूटन,फ्रैंकलिन, बोइल, चार्लस के नाम आ जाने से उनकी जीवनी भी लिखनी मेरे लिये आवश्यक हो जावे ! यदि नहीं तो केवल पतंजलि को सांकल की विध्वस्तता को बताने के लिये "संकलादिभ्यश्च" इस सूत्र के भाष्य की भी कोई आवश्यकता नहीं थी।

II और आप यह कैसे दावे से कह सकते है कि सांकल देश को नष्ट कर देने के पश्चात् वह फिर न बस गया होगा ?

क्या आपने **चित्तौड़ के ३ शाकों का भयंकर हाल नहीं सुना !** चित्तोड़ जड़ २ से नष्ट होकर पुनः थोड़े काल बाद ही वीर राजपूतों के साहस से बनता रहा, उसी प्रकार संभव है कि पतंजलि के काल तक सांकल भी फिर बस गया हो।

III तीसरा, संपूर्ण महाभाष्य में सांकल देश का नाम ही न आने से आप यह क्यों नहीं परिणाम निकालते कि उस देश के विनाश के कारण ही पतंजलि ने कहीं उसका उल्लेख नहीं

किया ? इस प्रकार की अनेक कल्पनायें हम भी कर सकते हैं परन्तु सच बात यही है कि पतंजलि का उद्देश्य व्याकरण पर भाष्य करना था न कि इतिहास लिखने का, अतएव उन्हों ने संकलादिभ्यश्च पर भाष्य नहीं किया ।

IV पतंजलि को सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ठहराने की दूसरी युक्ति वह यह देते हैं कि महाभाष्य में "एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् (१. १. २४) अञ्प्रकरणे क्षुद्रकमालवात्सेना संज्ञायाम्,, (४. १. ४५) इत्यादि कई स्थानों में क्षुद्रक, मालव जाति का उल्लेख आया है परन्तु सिकन्दर ने इन जातियों का प्रायः नाश करदिया था अतः इस विजेता से पहले जब कि यह जातियें विद्यमान थीं भाष्य का रचना काल होना चाहिए ।

यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए कि वह **औक्सि ड्रैकाई से क्षुद्रक तथा मैलोइ स मालव जाति की कल्पना करते हैं** । इसको स्पष्ट करने के लिये इन जातियों से युद्ध का कुछ वर्णन कर देना आवश्यक होगा ।

जब सिकन्दर पौरस राजा को जीतता हुआ रावीके पार पहुंचा तो वहां उसका कैथोई तथा औक्सिड्रेकाई जातियों से सांगल नामी स्थान पर बड़ा भारी युद्ध हुआ जिस में दोनों जातियें बड़ी बीरता से लड़ीं परन्तु अन्त में वह हार गई और सांगल देश को खाक में मिला दिया गया. पुनः जब सिकन्दर भारत से वापिस लौट रहा था तो उस ने सुना कि मैलोई और ओक्सिड्रेकाई जातियें मिल कर हमारे पर आक्रमण करना चाहती हैं अतः उस ने जब कि दोनों जातियें बैठी झगड़ा कर रही थीं कि किस जाति. का सेनापति बने उस

समय मैलोई पर आक्रमण कर दिया और निःशस्त्र तथा कृषि करते हुए मनुष्यों को भी धोखे से जा दबाया तो भी वीर मैलोई अकेले रहे. प्रथम युद्ध मिंटगुमरी में हुआ और दूसरा झंग तथा मिंटगुमरी के मध्य एक दुर्ग में हुआ. वहां सिकन्दर के बड़ी सख्त चोट लगी परन्तु वह बच गया और उस के सैनिकों ने वृद्धों बच्चों तक को मारना शुरू कर दिया जिस से वह डर कर भाग गये और पीछे बहुत कुछ तोफे देकर संधि करली और आधीनता स्वीकार करली । इस के पश्चात् औक्सिडेकाई ने भी विना किसी युद्ध के विजेता का महत्व देखकर उसे कर देना स्वीकार कर के तथा कुछ बड़े २ तोफे देकर उस की आधीनता मानली ।

I बस अब आप ही इस से परिणाम निकाललें कि क्या क्षुद्रक और मालव जातियां विलकुल नष्ट होगईं थीं ? हां ! हम यह अवश्य मान सकते हैं कि विशेपतः मैलोई के मनुष्य बहुत कुछ युद्ध में मारे गये थे, परन्तु इनका हमें कहीं नहीं पता लगता कि सिकन्दर ने उन दोनों जातियों का समूल नाश कर दिया हो, प्रत्युत इस के विपरीत जब उन्होंने उसकी आधीनता मांगी तो उस ने बड़ी खुशी से स्वीकार की ।

II दूसरा, आपके पास इस कल्पना में भी कौनसा पक्का प्रमाण है कि यह औक्सिडेकाई तथा मैलोई जाति में वही क्षुद्रक तथा मालव जातियें हैं जिनका वर्णन महाभाष्य में आया है । क्षुद्रक तथा मालव का औक्सिडेकाई और मैलोई में अपभ्रंश दीखने के कारण ही यदि दोनों की समानता का परिणाम निकाला जावे तो शायद मैं समझता हूं कि हम अन्य कई स्थानों पर बड़े २ झूठे परिणामों पर पहुंच सक्ते हैं । उदाहरण के लिये जैसे हमें पता है कि शोण तथा गंगा नदी के

संगम पर पाटलि पुत्र नगर पहले पहल बसाया गया था. अब यदि हम मैगास्थिनीज़ के इतिहास में वर्णित गंगा की सहायक नदियों की ओर दृष्टि डालें तो शब्द साम्य से हम सहसा मान लेंगे कि **सोनस तथा गंगा के सगम पर पाटलिपुत्र बसा हुआ था** । परन्तु यह सर्वथा झूठ है क्योंकि मैगास्थिनीज़ अन्यत्र कहता है कि गंगा की सहायक **इरन्नोवोआस नदी तथा गंगा के संगम पर पाटलिपुत्र बसा हुआ है** अब आप देखें कहां शोण नदी और कहां इरन्नोवोआस इन शब्दों में किसी प्रकार की भी साम्यता नहीं पाई जाती परन्तु जिन शोण तथा सोनस की शब्द साम्यता पाई जाती है यह बिलकुल भिन्न नदियें हैं अतः केवल क्षुद्रक, मालव का अपभ्रंश दीखने से कोई परिणाम नहीं निकल सकता ।

IV. जीविकार्थे चापण्ये के भाष्य से कुछ परिणाम निकालने के पहिले इस सूत्र का अर्थ कर देना अत्यावश्यक है।

इस सूत्र का अर्थ यह है यदि कोई प्रतिकृति या मूर्तिस्वरूप वस्तु जीविका के लिये तो हो परन्तु बेची न जा सके तो वहां कन् प्रत्यय का लोप हो जाता है। जैसे आजकल भारतवर्ष में मन्दिरों में शिव की मूर्तियें रक्खी हुई हैं और उन पर जो चढ़ावे चढ़ते हैं वह पुजारियों की जीविका बन कर उनके पेट में जाते हैं उसी प्रकार तब था ऐसी अवस्था में शिवक के स्थान पर कन् का लोप होकर शिव रूप बनता है । इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि लिखते हैं **"अपण्ये इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्दो विशाख इति किंकारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्याः प्रक-**

ल्पिता: भवेत्तासुनस्यात् यास्त्वेता: संप्रतिपूजार्थास्तासु भविष्यति" यहां पर मौर्य लोग सुवर्ण की इच्छा से शिवादिकों की मूर्तियें बना कर बेचते हैं इस से गोल्डस्टकर परिणाम निकालते हैं कि पतंजलि मुनि कम से कम प्रथम मौर्य राजा चन्द्र-गुप्त से पहिले नहीं हुए थे. परन्तु मैं उन के इस परिणाम को सन्तोष-दायक विलकुल नहीं समझता यद्यपि पतंजलि को चन्द्रगुप्त से पीछे ठहराने की अन्य युक्तियें दी जासकती हैं परन्तु उन की यह युक्ति अपने में कुछ बल नहीं रखती.

I क्योंकि **केवल** मौर्य नाम आ जाने से हम किसी परिणाम पर नहीं पहुंच सकते जब तक कि उस को समर्थन करने वाला अन्य कोई साधन उपस्थित न हो।

II क्या अपने समय के प्रसिद्ध राजाओं का सुवर्ण के लिये मूर्तियें बनाकर बेचना सम्भव हो सकता है? कभी नहीं।

III विवरणकार टीका करते हुए मौर्य का अर्थ '**मौर्या विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्त:** करते हुए किसी शिल्पी श्रेणी का निर्देश करते हैं न कि राजवंश की ओर इशारा करते हैं.

IV. कम से कम चन्द्रगुप्त से अशोक तक तीनों राजा बौद्ध थे, और जब धर्मराज अशोक ने बौद्ध धर्म में विशेषतया आक्रा-न्ति कर दी हो तो उसके आगे उसकी ६ पीढ़ी तक की संत-ति में भी बौद्ध धर्म रहना बहुत संभव है, और उनका काल भी कोई लम्बा नहीं २३२ से १८४ ई० पू० तक केवल ४८ वर्ष का है, क्या ४८ वर्ष में ही इनकी बड़ी भारी आक्रान्ति में परिवर्तन होना सम्भव है ? यदि नहीं तो **बौद्ध राजे शि-वादिकों की मूर्तियें कैसे बना या बेच सक्ते थे ?** अशोक की ६ पीढ़ियों के आगे यद्यपि ह्यूनसांग के भारत में

आने तक मगध में प्रान्तिक मौर्य राजा राज्य करते रहे परन्तु मैं आगे जाकर दर्शाऊंगा कि पतंजलि पुष्प मित्र के ही समकालीन थे अतः उन्न प्रान्तिक मौर्य राजाओं का वर्णन पतंजलि के भाष्य में आ ही नहीं सक्ता ।

इन ४ बातों से गोल्डस्टकर का उपरोक्त परिणाम जीविकार्थे चापण्ये के भाष्य से निकालना नितान्त अशुद्ध प्रतीत देता है, **साथ ही मूर्ति पूजा की प्रथा प्रचलित होने से यह भी परिणाम निकलता है कि महाभाष्य मूर्ति पूजा प्रचलित होने के बाद ही निर्मित हुआ है** । यहां तक मैंने यह सिद्ध किया कि पतंजलि ने पुष्प मित्र के राज्यारम्भ तक महाभाष्य नहीं बनाया था परन्तु पीछे बनाया गया है, अब प्रश्न उठता है कि यदि पुष्प मित्र के पहले तक नहीं बना तो कब महाभाष्य का निर्माण हुआ, इसका उत्तर मैं यह दूंगा कि **पतंजलि पुष्प मित्र के समय उपस्थित थे अतः या तो उसके राज्य काल में ही बनाया होगा या उसके कुछ वर्ष बाद,** पुष्प मित्र के समय पतंजलि की उपस्थिति के लिये मैं दो प्रमाण देता हूं ।

I उनमें से प्रथम यह है कि भाष्य में आया है "पुष्प मित्रो यजते याजकाः याजयन्तिः" (३. १. २६.) इह पुष्प मित्रं याजयामः (३. २. १२३.) अर्थात् पुष्प मित्र यज्ञ करता है और याजक उसे यज्ञ कराते हैं, हम यहां पुष्पमित्र को यज्ञ कराते हैं. इतिहास हमें बताता है कि पुष्प मित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, **यह एक और भी प्रमाण है जिससे हम कह सकते हैं कि महाभाष्य में वर्णित पुष्पमित्र अवश्य संग वंश का आदि राजा पुष्प मित्र है,** इह पुष्पमित्रं याजयामः

इससे तो कई ऐतिहासिक यह भी परिणाम निकालते हैं कि यज्ञ कराने वालों में पतंजलि भी उपस्थित थे, पतंजलि यज्ञ में उपस्थित हों या न हों इस पर मैं कुछ विवाद नहीं करता, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन दो स्थानों में पुष्पमित्र का नाम आया है वहां दोनों स्थानों पर वर्तमान काल का प्रयोग होने से और विशेषतः दूसरे प्रयोग को **"वर्तमानेलट्"** इस सूत्र का उदाहरण देने से कम से कम यह अवश्य स्पष्ट है कि लेखक पुष्प मित्र के समय उपस्थित था।

II पुष्पमित्र के समय पतंजलि की उपस्थिति का दूसरा अत्यन्त उत्तम प्रमाण यह है कि महाभाष्य में एक स्थान पर आया है **"परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्"** (३. २. १११) अर्थात् जो बात आंखों के सामने न हो परन्तु परोक्ष हो और उसे अन्य सब लोग भी जानते हों, और फिर वह बात **प्रयोक्ता ने अपनी आंखों से देखी हुई हो तो** वहां लङ् लकार होता है जैसे अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्, (यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने माध्यमिका को घेरा,) यहां अरुणद् में लङ् लकार होगया, शोक है उन पाश्चात्य विद्वानों पर जिन्होंने संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण, या अपनी इष्ट सिद्धि करने के लोभ से, किंवा भाष्य की पुस्तक को भली प्रकार न पढ़ सकने के कारण माध्यमिकाम् के स्थान पर माध्यमिकान् समझ कर बौद्ध संप्रदाय माध्यमिक का उल्लेख समझने लगे और उससे माध्यमिक संप्रदाय प्रवर्तक नागार्जुन का समय निश्चित कर पतंजलि का काल निर्णय करने के व्यर्थ

प्रयत्न में वड़ी ज़ोर शोर से लगे, परन्तु यदि उनका यह सारा प्रयत्न सफल भी हो जाता तो भी नितान्त निर्मूल और युक्ति शून्य था जब कि उन्होंने माध्यमिकाम् के स्थान पर माध्यमिकान् समझने में भूल में ही वड़ी भारी अशुद्धि करदी, परन्तु आप इस झूठी कल्पना को छोड़कर वास्तविक घटना के ज्ञान के लिये ज़रा पुष्पमित्र के इतिहास पर दृष्टि डालिये।

पुष्पमित्र के राज्य में ग्रीस या यूनान (यवन) के राजा मिनान्डर के आक्रमणों का उल्लेख करते हुए स्मिथ साहब कहते हैं " Menander.........besiezed Madhyamika(now Nagari near chitor) in rajputana, invested Saketam in southern Oudh.,, अर्थात् मिनान्डर ने राजपूताने में माध्यमिका को घेरा (जिसे आज कल नागरी कहते हैं जो कि चितौड़ के समीप है) और दक्षिणीय अवध में साकेतम् को घेरा.

इस से अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध अन्य कौनसा प्रमाण हो सक्ता है जब कि भाष्यकार अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनः माध्यमिकाम् का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यह घटना प्रयोक्ता की अपनी आंखों देखी हुई है. जब प्रयोक्ता पतंजलि ने **यूनानी या यवन से साकेत और माध्यमिका के घेरे जाने की घटना अपनी आंखों देखी है** तो निस्सन्देह मैं कहता हूं कि पतंजलि मुनि महाराजा पुष्प मित्र के समय में इस भारत भूमि पर वर्तमान थे. परन्तु पुष्पमित्र का राज्य काल १८४–१४८ ई० पू० है अतः पतंजलि भी इसी समय उपस्थित थे, अर्थात् भाष्यकार पतंजलि मुनि का काल हम निःशंक होकर कह सक्ते हैं कि ईसा से १५० वर्ष पूर्व था.

तृतीय निश्वास ।

संस्कृत भाषा की दशा पतंजलि का काल निश्चित हो जाने के पश्चात् उन के ग्रन्थ महाभाष्य से उस समय के भारतीय इतिहास पर क्या प्रकाश डलता है उसे दिखाने का यत्न किया जाता है.

महाभाष्य के अध्ययन से इस बात की पूर्ण रूपेण साक्षि मिलती है कि **पतँजली के समय तक भी अभी सँस्कृत भाषा भाषण का बहुत कुछ प्रचार था** जो कि निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है ।

१. शब्दानुशासनं नाम शास्त्र मधिकृतं वेदितव्यम्, केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानांञ्च तत्र लौकिका स्तावद् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगोब्राह्मण इति वैदिकाः खल्वपि शंनोदेवी रभीष्टये, इषेत्वोर्जे त्वा, अग्निमीलेपुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये (१. १. १.) इसकी टीका करते हुए कैयट लिखते हैं **वैदिकानामपि लौकिक त्वेऽपि भाषा शब्दा ना मेव लौकिकत्वम्"** अर्थात् वैदिक शब्दों से इतर जो शब्द हैं, वह लौकिक शब्द हैं और उन्हीं को भाषा शब्द कहते हैं, **यह भाषा शब्द तभी कहे जा सक्ते हैं जब कि वह लोक में बोले जावें ।**

२. व्याकरण के प्रयोजन क्यों कहने पड़े इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं पुरा कल्प एत दासीत् संस्कारोत्तर कालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यस्तत्तत्स्थान करण नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते तदद्यत्वे न तथा वेद

मधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः अनर्थकं व्याकरणम्" (१. १. १) यहां पर **सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः** इस वाक्य से पता लगता है कि संस्कृत भाषा का व्यवहार बहुत कुछ था जिससे उन्हें शब्दों का ज्ञान स्वयं हो जाता था अतएव पाठकों की व्याकरण पढ़ने में रुचि न थी और इसी लिये वह बाल्यावस्था से ही वेद पढ़ने लग जाते थे, **यदि सँस्कृत भाषा बोली न जाती होती तो कैसे संभव होसक्ता था कि वह बिना सँस्कृत पढ़े वेदाध्ययन कर सक्ते।**

प्रसंगवशात् इस स्थान पर यह लिख देना भी अनुचित न होगा कि भगवान पतंजलि के समय पाठ प्रणाली बदली हुई थी, पूर्व काल में तो मनुष्य पहले व्याकरण पढ़ते थे तत्पश्चात् वेदाध्ययन करते थे, परन्तु अब बाल्यावस्था से ही वेदाध्ययन करने लग पड़े थे और व्याकरण नहीं पढ़ते थे, इस परिवर्तन से अनेक प्रकार की हानियें पैदा होगई थीं, मनुष्यों के उच्चारण बिगड़ गये थे; स्वर से अनभिज्ञ हो रहे थे, अतः कृपालु पतंजलि ने इन हानियों को रोकने के लिये व्याकरण के प्रयोजन बताकर पुनः वही प्राचीन पाठ प्रणाली प्रचलित करने का बड़ा यत्न किया।

३. पतंजलि शब्द, अर्थ और उनके संबन्ध को नित्य बताते हुए कहते हैं "कथंपुनर्ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः संबन्ध श्चेति ? लोकतः, यल्लोकेऽर्थ मर्थ मुपादाय शब्दान् प्रयुंजते नैषां निर्वृतौ यत्नं कुर्वन्ति....यदितर्हि लोक एषुशब्देषु प्रमाणं किं शास्त्रेण क्रियते" (१. १. १) यहां पर **लोक को शब्दों के प्रामाण्याप्रामाण्य की निश्चिति के लिये निर्णायक के तौर पर माना है,** यह तभी होसक्ता है जब कि इस भाषा का

अच्छी तरह प्रचार हो, और उससे मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द अधिक २ आने लगें उन्हें व्याकरण नियम बद्ध करदे। हमें पाणिनि के सूत्रों से इस बात की साक्षि भी मिलती है कि भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ शब्दों के प्रयुक्त होजाने पर उन्हें नियम बद्ध किया गया है, जैसे कि एङ् प्राचांदेशे, वृद्धात्प्राचाम्, रोपधेतोः प्राचाम् इत्यादि सूत्रों से भिन्न २ शब्द प्राग्देशों में नियम बद्ध किये गये।

४. तद्धितश्चा सर्व विभक्ति इस सूत्र में अव्यय के विषय में विचार करते हुए महर्षि लिखते हैं "यद्यपि तावद्वैयाकरणा विभक्ति लोपमारभमाणा अविभक्तिकान् शब्दान्प्रयुंजते. येत्वेते वैयाकरणेभ्योऽन्ये मनुष्याः कथंतेऽविभक्तिकान् शब्दान्प्र युंजते" और आगे **लौकिक** शब्द के पाठ से हमें पता लगता है कि वैयाकरणों से अन्य मनुष्य लौकिक मनुष्य हैं, जब साधारण लौकिक मनुष्य भी संस्कृत बोल सक्ते हैं तो स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा का काफ़ी प्रचार होगा।

५. शब्द ज्ञान में धर्म है या शब्दों के प्रयुक्त करने में इस विषय की समालोचना करते हुए मुनि कहते हैं "प्रयोगे सर्वलोकस्य **यदिप्रयोगेधर्मः सर्वोलोकोऽभ्युदयेनयुज्येत**" (१. १. १) अर्थात् शब्दों के प्रयोग में धर्म नहीं. क्योंकि यदि प्रयोगमें धर्म होता तो सारा लोक अभ्युदय को प्राप्त हो जावे. यह सारा लोक अभ्युदय को तभी प्राप्त हो सक्ता है यदि वह इन शब्दों को बोलने में प्रयुक्त करता हो. यद्यपि भाष्यकार के इस प्रकार कहने में कुछ अत्युक्ति हो तो भी यह एक ऐसा दृढ़ प्रमाण है कि जिससे कोई भी विचारशील पुरुष निःशंकतया यह कहे बिना नहीं रह सक्ता कि पतंजलि के समय संस्कृत भाषा का भाषारूप में बहुत कुछ प्रचार था.

६. द्वितीयाध्याय के "अजेर्व्यघञपौ" इस सूत्र के भाष्य में महर्षि सारथि और वैयाकरण का संवाद देते हुए एक **सारथि के मुख से बड़ी मधुर तथा सरल भाषा बुलवाते हैं.** उस से बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं कि जब एक सारथि भी संस्कृत भाषा बोल सकता है, तो उस समय संस्कृत का व्यवहार कहां तक बढ़ा हुआ होगा. उनका संवाद इतना सरस है कि उसे विषय की स्पष्टता के लिये उद्धृत करना उचित जान पड़ता है अतः वह उद्धृत किया जाता है.

"एवंहि कश्चि द्वैया करण आह कोऽस्यरथस्यप्रवेतेति.
सूत आह अहमा युष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति. वैयाकरण आह अप शब्द इति.
सूत आह प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः नत्विष्टिज्ञः, इष्यत एतद्रूपमिति.
वैयाकरण आह अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति.
सूत आह न खलु वेञः सूतः सुवतेरेव सूतः" (२. ४. ५६)

७. महाभाष्य में स्थान २ पर कई वाक्य ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें देखकर किसी भी बुद्धिमान् समालोचक के मन में स्वभावतः यह विचार उठे विना कभी नहीं रहसकता कि ऐसे **वाक्य व्याकरण जैसे शुष्क तथा मनको थकाने वाले विषय में पाये जाने कभी संभव नहीं हो सके जब तक कि वह भाषा भाषा रूप में बहुत कुछ प्रचलित न हो.** निबंध के विस्तार भय से दृष्टान्त के तौर पर मैं केवल चार पांच वाक्य विद्वानों के सामने उपस्थित करता हूं उस से वह स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं.

(I.) निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते, अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम् . (४. ३. ९०)

(II) किंगोंत्रोऽसि माणवक ! वात्स्यायनः (४. १. ९०)

(III) प्रयुज्यते हि लोके यदि मे भवानिदं कुर्यादह मपि त इदं दद्याम (३. ४. ८)

(IV) यल्लोको भविष्यद्वाचिनः शव्दस्य प्रयोगं नमृष्यति. कश्चिदाह देवश्चेद् वृष्टः संपत्स्यन्ते शालय इति. स उच्यते मैवं वोचः संपन्नाः शालय इत्येवं ब्रूहि (३. ३. १३३)

(V) अनयोः पूल्योः, कटंकुरु, अनयोर्मृत्पिण्डयोः घटंकुरु इति न-चोच्यते एक मिति एकं चासौ करोति (६. १ ८४)

(VI) एतान्गाः चतुरो वलीवर्दान् पश्य. (६. १. १०२)

(VII) कश्चित्तन्तु वायमाह अस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति. सपश्यति यदि शाटको नवातव्यः अथवातव्यो न शाटकः शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्. (१. १. ४५)

(VIII) अंग हि भावनग्नौ निष्टप्य घृतघटं तृण कूर्चेण प्रक्षालय तु (२. १. १)

(Ix) येत्वेते राज कर्मिणो मनुष्यास्तेषां कश्चित्कंचिदाह कटंकुरु इति. स आह नाहं कटं करिष्यामि घटो मया आहृतः (१. ४. ४९)

(X) आहर देवदत्त ! शालीन् यज्ञदत्तः एतान् भोक्ष्यते (८. १. ५१)

८. अस्ति लौकिकी प्रायोक्त्री विवक्षा. प्रयोक्ताहि मृद्व्या-स्निग्धया श्लक्ष्णयाजिव्हया मृदून् स्निग्धान् श्लक्ष्णान् शव्दान् प्रयुंक्ते (५. १. १६) इस पर कैयट टीका करता हुआ लिखता है " तस्माद् यत्रार्थे लोकाः शद्वान् प्रयुंक्ते तदर्थाभिधायिनस्त एव शास्त्रे-णानु विधीयन्ते प्रयोग मूल त्वाद् व्याकरण स्मृतेः" यहां पर

जिव्हया पद देकर स्पष्टतया भाष्यकार दर्शाते हैं कि मनुष्य संस्कृत बोलते थे और वह जिस अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त करते थे उन शब्दों को उन्हीं अर्थों में व्याकरण नियम बद्ध कर देता है ।

उपरोक्त आठ प्रमाणों से इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ गया होगा कि महर्षि पतंजलि के जीवन काल में भी संस्कृत भाषा बहुत कुछ जनों के भाषण व्यवहार में प्रयुक्त होती थी. पाठकगण ! इस देववाणी को हमारे पूर्वजों ने इतना सुस्पष्ट और असंदिग्ध बनाया हुआ था कि यदि मैं इस के लिये यह शब्द प्रयुक्त कर दूं कि अभी तक संसार भर की भाषाओं में कोई भी भाषा इस विषय में इस का मुकाबला नहीं कर सकती, तो कोई अत्युक्ति न होगी. किसी भाषा के सुस्पष्ट तथा असंदिग्ध बनाने में स्वर पर या शब्दों के उच्चारण पर बड़ा बल दिया जाना चाहिये. महा भाष्य के अध्ययन से जब मैंने स्वरों के दोषों को देखा तो मैं यह कहे बिना नहीं रह सका कि बस अब यह उच्चारण पर बल देने की अन्तिमसीमा होगई, इस से अधिक सूक्ष्मता तक मैं नहीं समझता कि और क्या किया जा सकता है. यदि किसी मनुष्य का उच्चारण ठीक नहीं तो यहां वह अपने भाव पूर्ण रूप से दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकेगा वहां उस के भाषण का प्रभाव भी श्रोता पर कुछ नहीं पड़ेगा. भाषा अपने अन्दर के भावों को अपर जन तक पहुंचाने का साधन है, यदि वह भाषा उस उद्-देश्य को पूरा करने में कृत कृत्य नहीं होती तो वह भाषा किस काम की, ऐसी भाषा को तो दूर से ही नमस्कार करना चाहिए. इस पर-मावश्यक बात में जो संस्कृत भाषा ने उन्नति की पराकाष्ठा करदी थी उसके सामने अन्य सब भाषाओं को सिर ही झुकाना पड़ता है, और वह एक ऐसा दृढ़ प्रमाण है कि जिस से हम बिना किसी संदेह के यह

कह सकते हैं कि **देववाणी किसी समय जन साधारण के भाषण की भाषा अवश्य रह चुकी है अन्यथा इस प्रकार उच्चारण पर बल देना जिसका कार्य केवल भाषण में ही पड़ता है कभी नहीं हो सकता,** उस सूक्ष्मता को वहां पर दर्शाना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं अतः उसे मैं पाठकों के सामने विना रक्खे नहीं रह सकता।

वह स्वर या उच्चारण के दोष यह हैं:—(१. १. १)

संवृत—ए. ऐ. ओ. औ. इन वर्णों को विवृततम अर्थात् अच्छी तरह मुख खोलकर बोलने के स्थान पर संवृत प्रयत्न यानी संकुचित मुख से बोलना।

कल—वर्ण के असली स्थान को छोड़कर अन्य स्थान से उस वर्ण का उच्चारण करना।

ध्मात—श्वास के अधिक होने से ह्रस्व को दीर्घ की न्याईं बोलना-

एणीकृत—जिसके उच्चारण पर संदेह रहे कि यह कौनसा वर्ण है?

अम्बूकृत—मुख के अन्दर २ बोलना।

अर्धक—दीर्घ को ह्रस्व की न्याईं बोलना।

ग्रस्त—जिव्हा मूल में ही अक्षरों का रह जाना, जिसको अव्यक्त या अस्पष्ट भी कहते हैं, और जिसे आज कल की साधारण भाषा में अक्षरों का खा जाना कहा जाता है।

निरस्त—कठोरता से बोलना ।

प्रगीत—भजनों की न्याईं गा कर बोलना ।

उपगीत—अगले वर्ण के वर से पूर्व वर्ण के स्वर का मिल जाना ।

क्ष्विण्ण—कांपती आवाज़ में बोलना ।

रोमश—गंभीर या गाढ़ स्वर से बोलना ।

यह ऐसे दोष हैं जिनको हटाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु आजकल के भाषणों में यह दोष अधिक या थोड़ी मात्रा में प्रायः पाये जाते हैं और आजकल की शिक्षा प्रणाली में यह बड़ा भारी दोप है जिसे कि हमारे पूर्वजों ने पूरी तरह दूर कर दिया था।

जैसे मैं पहले कह चुका हूं कि पाणिनि के समय से पूर्व ही संस्कृत के शब्द भिन्न २ देशों में भिन्न २ प्रचलित हो चुके थे उन की सिद्धि महाभाष्य से भी बहुत कुछ होती है, वह कहते हैं शवतिर्गतिकर्मा कम्बो जेप्वेव भापितो भवति विकार एन भार्या भाषन्ते शवइति, हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्य मध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुंजते. दाति र्लवणार्थे प्राच्येपु दात्रमुदीच्येषु, (१. १. १) इस भेद का कारण मैं उस समय शीघ्र गामी यानों का अभाव समझता हूं, उस समय आने जाने के साधन सुगम न होने से मनुष्य परस्पर में बहुत मिल नहीं सकते थे, परस्पर में बहुत न मिलने के कारण भाषा में भेद पड़ना आवश्यक ही था।

और साथ ही हमें इस बात का भी परिचय मिलता है कि महाभाष्य के समय संस्कृत के कई प्रकार के अपभ्रष्ट रूप प्रचलित

हो चुके थे, जैसे कि वह लिखते हैं "एकैकस्य शब्दस्य वहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा गोरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिके त्येवमादयोऽपभ्रंशाः" (१.१.१) यहां पर एक गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका यह चार अपभ्रष्ट रूप पाये जाते हैं जिससे पता लगता है कि संस्कृत शब्दों का अपभ्रंश बहुत हो चुका था, अधिक नहीं तो कम से कम भिन्न २ चार बोलियों के चार अपभ्रंश तो अवश्य ही हो चुके थे और फिर इत्येवमादयः से तो यह पता चलता है कि और भी अधिक अपभ्रंश थे, इस अपभ्रंश के कारण मैं समझता हूं कि कदाचित् यह होंगे ।

i **भिन्न २ देशों की भिन्न २ जलवायु का प्रभाव.** भाषा पर जलवायु का बड़ा प्रभाव डलता है. कई अक्षर ऐसे होते है जिनका उच्चारण उनके अनुकूल जल वायु होने पर ही हो सकता है. यथा आंगल लोग सदा "त" को "ट" तथा "ण" को "न" बोलते हैं.

ii परस्पर में एक देश वासियों का दूसरे देश वासियों मिलना

iii **भिन्न २ देशों के भिन्न २ राज्य होने**–यदि कई देशों पर एक ही राजा हो तो एक ही प्रकार की रीति नीति उन सब देशों में वर्ती जावेगी और एक ही भाषा कार्यालयों, न्यायालयों आदि राजकीय संस्थाओं में होगी, परन्तु भिन्न २ राज्य होने से भिन्न २ नीतियें होंगीं, अतएव भिन्न २ प्रकार के परिवर्तन होंगे और जब फिर एक देश का दूसरे देश से बहुत अधिक संबन्ध नहीं तो वह परिवर्तन और भी अधिक बढ़ते जाते हैं जिससे भाषा में भी भिन्नता हो जाती है ।

iv चौथा कारण अवान्तर रूप से महर्षि पतंजलि स्वयं देते हैं कि **मनुष्यों की प्रवृत्ति व्याकरण पढ़ने से हट गई थी,** एक मात्र व्याकरण ही एक ऐसी सुरक्षित कुंजी है जिससे कोई भाषा अधिक देर तक स्थिर रह सकती है, व्याकरण के बिना किसी भाषा को स्थिर रखने का यत्न करना वामन हाथों से एक उच्च वृक्ष से फल तोड़ने का दुस्साहस करना है या कुंजी के बिना दृढ़ ताले को खोलने का प्रयत्न करना है, **जब मनुष्यों ने व्याकरण की उस सुरक्षित कुंजी की परवाह न की तो भाषा का बिगड़ना अत्यावश्यक ही था।**

चतुर्थ निश्वास ।

विद्यायें तथा पुस्तकें—भद्रगण ! यहांतक तो मैंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि पतंजलि के समय संस्कृत भाषा की भाषा रूप में क्या अवस्था थी, परन्तु अब इसके आगे कुछ इस विषय पर भी प्रकाश डालना चाहता हूं कि उस समय संस्कृत में पुस्तकों की भी कमी नहीं थी. भिन्न २ विद्यायों पर भिन्न २ अनेक ग्रन्थ थे जो शोक है कि अब नहीं मिलते ।

१. पतंजलि मुनि मेघों की विजली से भावी परिणामों को वताते समय लिखते हैं, वाताय कपिला विद्यु दात पायाति लोहिनी कृष्णा सर्व विनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्.(२. ३. १३) अर्थात् जब कपिल या बादामी रंग की विद्युत् चमके तब जानों कि वायु चलेगी, जब अत्यन्त लाल रंग की विजली चमके तब धूप या गर्मी पड़ेगी, जब काली विजली चमके तब सर्व नाश होगा, और जब श्वेत विद्युत् चमके तब दुर्भिक्ष पड़ेगा ।

विद्युत् विज्ञान वेत्ता हमें बताते हैं कि यद्यपि अभी तक यह ऐसा क्यों होता है इस विषय में कोई सिद्धान्त नहीं बना तो भी उपरोक्त घटनायें विज्ञान के नियमों से असंभव नहीं प्रत्युत बहुत कुछ संभव है कि किसी दिन यह महाभाष्य में कहे हुए सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों में आ जायें, कुछ ही हो परन्तु इस में संदेह नहीं कि प्राचीन लोग **विजली से कुछ न कुछ अवश्य परिचित थे ।**

२. भाष्यकार अयस्कान्तमय: संक्रामति (३. १. ६) का वाक्य देते हुए निर्देश करते हैं कि उस समय के लोग चुम्बक से

भी परिचित थे और वह जानते थे कि चुम्बक में लोहे को आक-र्षण करने की शक्ति है।

३. वायस विद्यिकः, सार्प विद्यिकः (४. २. ६) से पता लगता है कि मनुष्य काक और सर्पादि प्राणियों की विद्या भी जानते थे और उन पर ग्रन्थ बने हुए थे।

४. महाभाष्य के पढ़ने से पता लगता है कि उस समय चित्र विद्या भी खूब उन्नति पर थी. चित्रविद्या विशारद लोग ऐसे २ मनोहर चित्र बनाते थे जिन में युद्ध काल का दृश्य खींचते हुए एक दूसरे पर पड़ते हुए प्रहारों को इस कुशलता से दिखाते थे जो कि मारने की तय्यारी में ऊपर उठे हुए और फिर मारने पर नीचे गिरे हुए, स्पष्टतया दिखाई दें और चित्र को दिखाकर वास्तविक युद्ध का दृश्य दीखने लगे, इस की साक्षि " चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निप-तिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसस्य कृष्णस्य च " (३. १. २६) इस वाक्य से मिलती है। इस से ग्रन्थकर्त्ता सिद्ध करना चाहते हैं कि यतः चित्रों में वास्तविक दृश्य की न्याईं कंस और कृष्ण के प्रहार ऊपर उठे हुए और नीचे गिरे हुए दीखते हैं अतः कंस चिरकाल से यद्यपि मरा हुआ है तो भी चित्रों से वर्तमान दीखने के कारण कंसं घातयति" यहां पर वर्तमान काल का प्रयोग हो जाता है।

५. आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण इन विषयों पर भी पुस्तकें बनी हुई थीं, पतंजलि ने आख्यायिका का उदाहरण **वासवदत्तिका** दिया है जिससे पता लगता है कि सुबन्धु कविकृत वासवदत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की बनाई वासवदत्ता पुस्तक पतंजलि के समय उपस्थित थी।

---

५. आख्यानाख्या यिकेतिहास पुराणे भ्यश्च ४. २. ६०

६. ६ अंगों और रहस्यों (शायद उपनिषदें) सहित चार वेद, १०० यजुर्वेद की शाखायें, १००० सामवेद की शाखायें, २१ ऋग्वेद की शाखायें, ९ अथर्ववेद की शाखायें, वाको वाक्य (तर्क शास्त्र) इतिहास पुराण और वैद्यक इन सब विषयों के ग्रन्थ थे।

७. कात्यायन प्रणीत भ्राजनामक श्लोक थे जिन में से एक श्लोक भाष्यकार ने उद्धृत किया है जो कि यह है:—

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान्य थावद्व्यवहार काले सोऽनन्त माप्नोतिजयंपरत्र वाग्योगविद् दुष्यतिचापशब्दैः (१. १. १)

८. आपिशलि का बनाया हुआ व्याकरण ग्रन्थ (शायद जिसका निर्देश पाणिनि ने "वासुप्या पिशलेः" में किया है) तथा काशकृत्स्नि की मीमांसा थी जिन्हें एक स्त्री पढ़ती है. जिससे पता लगता है कि **स्त्रियें भी शास्त्रों का अध्ययन किया करती थीं** आज की तरह उन्हें विद्या से विमुख नहीं रक्खा जाता था।

९. तित्तिरि के श्लोक, याज्ञवल्क्य तथा सौलभ के ब्राह्मण, आसुरि का कल्प, माथुर की वृत्ति, वररुचि का काव्य, जालूक के श्लोक, पराशर का कल्प, शाकल्य संहिता, तथा अन्य कई धर्म सूत्र उस समय उपस्थित थे जिनका कि अब प्रायः लोप होगया है.

१०. संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम् (१. १. १) इस महाभाष्य के वाक्य पर विवरणकार संग्रह के विषय में लिखते हैं "संग्रहो व्याडिकृतो लक्ष श्लोक संख्य को ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः" अर्थात् संग्रह ग्रन्थ जिसमें एक लाख श्लोक हैं व्याडि का बनाया हुआ है;

---

६. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः इत्यादि १. १. १

८. ४. १. १४

९. ४. २. ८६ । ४. ३. १०१ । ४. २.६० । ५. १. ११९ । १. ४, ८४

परन्तु पतंजलि मुनि शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः(२.३.६६) यह वाक्य देते हुए दर्शाते हैं, कि संग्रह दाक्षायण का बनाया हुआ है। इस प्रकार विवरणकार तथा पतंजलि के वाक्यों को मिलाकर देखने से पता लगता है कि **पाणिनि मुनि और व्याड़ि दोनों भाई थे.** क्यों कि दक्ष की पुत्री दाक्षी पाणिनि की माता थी (दाक्षी पुत्रस्य पाणिनेः (१. १. २०) और दक्ष के पुत्र दाक्षि की संतान दाक्षायण अर्थात् व्याड़ि था । अर्थात् पाणिनि और व्याड़ि दोनों दक्ष के पौत्र थे जिस से यह दोनों परस्पर में भाई थे. निम्न लिखित चित्र से यह स्पष्ट है।
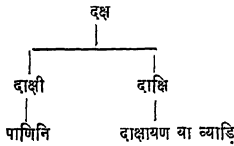
११. महाभाष्य के पाठ से पता लगता है कि वर्तमान यास्क-कृत् निरुक्त भी पतंजलि के समय विद्यमान था. इस विचार को पुष्ट करने वाले हमें महाभाष्य में से कई एक ऐसे वाक्य तथा सिद्धान्त मिलते हैं जो कि यास्ककृत् निरुक्त में पाये जाते हैं, उन्हें मैं विषय की स्पष्टता के लिये समालोचकों के सामने रखदेता हूं जिस से वह स्वयं उन से परिणाम निकाल सकें ।

१. यास्क ने तत्रनामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च (१. ४) इस वाक्य में वताया है कि वैयाकरणों में शकट के पुत्र शाकटायन तथा निरुक्त सब नाम वाची शब्दों को धातुज मानता है । इसी बात को पतंजलि ने "नाम च धातुज माह निरुक्ते

व्याकरणे शकटस्यचतोकम्'' (३. ३. १) कहकर अपने भाष्य में निर्दिष्ट किया है ।

२. जिन शब्दों का प्रयोग जिन देशों में यास्क ने बताया है उन्हीं शब्दों का प्रयोग उन्हीं देशों में पतंजलि ने भी बताया है. ।

यास्कने लिखा है ''शवतिर्गति कर्मा कम्बोजेष्वेवभाष्यते विकारमन्यार्थेषुभाषन्ते शव इति. दातिर्लवणार्थेप्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु''(२. १)पतंजलि ने एक क्रिया की अधिकता के साथ कहा है शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकारएनमार्या भाषन्ते शव इति. हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुंजते. दातिर्लवणार्थे प्राच्येषु दात्र मुदीच्येषु (१ . १ . १)

३. यास्क ने निरुक्त के प्रयोजन दिखाते समय अर्थ जानने वाले की प्रशंसा तथा तोते की न्याई केवल शब्द रटने वाले की निन्दा में जो उतत्व: पश्यन्नददर्श (१ . ६) ऋचा कही है वही ऋचा उसी प्रयोजन के लिये पतंजलि ने व्याकरण के प्रयोजन दर्शाते समय लिखी है । (१ . १)

४. और इसी प्रकार जैसे यास्क ने यद् गृहीतम विज्ञातम् (१ . ६ .) के श्लोक को निरुक्त के प्रयोजन दर्शाने के लिये लिखा है वैसे ही पतंजलि ने भी यदधीतम विज्ञातम् (१.१.१) में अधीतम् के परिवर्तन के साथ उसी श्लोक को व्याकरण के प्रयोजन बताने को लिखा है ।

५. हंस की व्युत्पत्ति जो निरुक्त ने की है वही **इतर पक्ष का निषेध करते हुए** महाभाष्य में पाई जाती है, जैसे निरुक्त में '' हंसाः हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् (४ . २) है वैसे ही भाष्य में '' कः पुनराह हम्मते हंस इति किंतर्हि हन्तेर्हंसः हन्त्यध्वानमिति''(६.१. १३) कह कर वही व्युत्पत्ति मानी है ।

६. षड्भावविकारा: भवन्तीति वार्ष्यायणि जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽ पक्षीयते विनश्यतीति । (१ . १) इस वाक्यमें यास्क ने जो वार्ष्यायणि के मत में उत्पन्न पदार्थों की ६ दशायें बताई हैं वही महाभाष्य में निर्दिष्ट की गई हैं. षड् भावविकारा इतिहस्माह वार्ष्यायणि जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति. (१.३.१)

७. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो इस ऋचा की व्याख्या जिन व्युत्पत्तियों से यास्क ने की है उन्हीं से पतंजलि ने भी की है और यदि भाष्य में कुछ भेद है तो केवल व्युत्पत्ति के प्रकारों की संख्या कम देने में, यह नहीं कि कोई नई व्युत्पत्ति किसी शब्द की दी गई हो ।

स्पष्टता के लिये उन्हें इस प्रकार चित्र में दिखाया जाता है:—

निरुक्त (४.२)	महाभाष्य (१.१.१)
I तितउपरिवपनंभवति ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्र तुन्नमितिवा.	I तितउ परिवपनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा.
II सक्तुःसचतेर्दुर्धावोभवति कसतेर्वास्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति.	II सक्तुः सचतेर्दुर्धावोभवति कसतेर्वा विपरीताद्वि कसितो भवति.
III धीरा: प्रज्ञानवन्तः ध्यानवन्तः.	III धीराः ध्यानवन्तः
IV मनः प्रज्ञानम्.	IV मनः प्रज्ञानम्
V अक्रत अकृषत	V अक्रत अकृषत
VI तत्र सखाय: सख्यानि संजानते.	VI अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते.
VII लक्ष्मी र्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लिप्स्वभानाद्वा लाञ्छनाद्वा....	VII लक्ष्मीर्लक्षणात्.

८. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् (३. २. १०८) इस प्रयोग में पतंजलि बताते हैं कि कौत्सपाणिनि के पास गया था. यदि यह कौत्स वही कौत्स है जिसका मत था कि मंत्र अनर्थक हैं और जिसका खण्डन यास्क ने किया है (१.५) तो निस्सन्देह पतंजलि के समय यास्ककृत निरुक्त उपस्थित था क्योंकि यास्क और कौत्स तथा यास्क समकालीन ही थे. जिससे पाणिनि भी यास्क के समय ठहरता है. परन्तु पाणिनिके पीछे पतंजलि हुए हैं अतः उनका बनाया ग्रन्थ भी निरुक्त से पीछे होना चाहिए ।

पंचम निश्वास ।

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति–आर्यावर्त–विषय पर कुछ लिखने के पूर्व मैं उस अशुद्धि को हटा देना चाहता हूं जो कि बहुत से मनुष्य भ्रम से आर्यावर्त तथा भारतवर्ष को एक ही समझ लेने में कर देते हैं **भारतवर्ष तथा आर्यावर्त एक नहीं प्रत्युत आर्यावर्त भारतवर्ष का एक भाग है** मैं समझता हूं कि आर्यावर्त का संबन्ध धर्म से है अतएव इसे आर्यों का स्थान कहते हुए इस से बाहर की अन्य सब जातियों को म्लेच्छ या अशिष्ट कहा जाता है, चाहे वह भारतवर्ष की हों चाहे भारत वर्ष के बाहर की और भारत वर्ष का संबन्ध राज्य से है, यहां तक आर्य जाति का मुख्यतः राज्य तथा निवास था उसे भारतवर्ष कहा गया. अतः यहां पर भारत वर्ष की भौगोलिक स्थिति से विस्तृत भारतवर्ष की स्थिति समझनी चाहिए नाकि भारत के एक भाग आर्यावर्त की.

महाभाष्य के पढ़ने से पता लगता है कि २य शताब्दि ई. पू. में आर्यावर्त की सीमा मनु के समय से कुछ बदली हुई थी. मनु के समय आर्यावर्त की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल पूर्व में पूर्वीयसमुद्र तथा पश्चिम में पश्चिमीय समुद्र थी. परन्तु पतंजलि के समय वह सीमा नहीं रही थी प्रत्युत उस में कुछ परिवर्तन आगया था. भाष्यकार लिखते हैं "कः पुनरार्यावर्तः ? प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालक वनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्. यद्येवं किष्किन्धगन्दिकम्, शकयवनम् शौर्यक्रौंचमिति न सिध्यति." (२. ४. १० । ६.३. १०९) इस पर कैयट लिखता है कि आदर्शादि चारों पर्वतों के नाम हैं, अतः पता लगता है कि

पतंजलि के समय आर्यावर्त की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में पारियात्रपर्वत, पूर्व में कालक वनपर्वत तथा पश्चिम में आदर्श पर्वत थी, . परन्तु पारियात्र, कालकवन, तथा आदर्श पर्वत कौन से पर्वत हैं इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं चलता, चिन्तामणि वैद्य महाशय ने परियात्र को भारत के पश्चिम में अरावली पर्वत को ठहराया है, परन्तु उसका भाष्य से बिलकुल मत विरोध है यतः वह उसे दक्षिण की सीमा कहता है अतः वैद्य की सम्मति पर कुछ भी विश्वास नहीं किया जा सकता. हां पतंजलि के कथन से इतना तो अवश्य पता लगता है कि किष्किन्ध तथा गन्दिक लोग (किष्किन्धा, गन्दिका नगरी के निवासी) दक्षिण में आर्यावर्त की सीमा परियात्र से बाहर थे, शक यवन जातियें पश्चिम में आदर्श पहाड़ से परे थीं, और शौर्य; क्रौंच लोग उत्तर में हिमालय के पीछे थे।

२—जनपद. उस समय भारतीय राष्ट्र ग्राम, नगर, और जनपद (जिसे भाषा में देस या देश कहते हैं) इन तीन विभागों में विभक्त था। जिनमें से पतंजलि ने अपने समय के कुछ प्रसिद्ध जनपदों के नाम दिये हैं जिनके देखने से उस समय के भारत विभाग पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है।

I कश्मीरान् गमिष्यामः (३.२.११४) यहां पर बहु वचन के प्रयोग से पता लगता है कि कश्मीर जनपद था।

II उशीनर और मद्र भी जनपद थे। उशीनरवन्मद्रेषुयवाः सन्ति न सन्तीति (७.१.७३) इस वाक्य से पता लगता है कि इन देशों में यव की उपज अच्छी होती थी और इन दोनों में भी उशीनर देश में अधिक यव उत्पन्न होते थे। मद्र देश बड़ा समृद्धि संपन्न था अतएव भाष्यकार के मन में मद्राणां

समृद्धिः इस अर्थ में सुमद्रम (२.४.८४) का प्रयोग देना उचित जान पड़ा।

III इसी प्रकार महर्षि सुमगधम् (२. ४. ८४) का प्रयोग देते हुए निर्देश करते हैं कि मगध देश भी खूब समृद्ध था।

IV अंग, वंग, वृजि यह भी जनपदों के नाम हैं (४. ३. १००, १२०)।

V नो खण्डिकान् जगाम् नो कलिंगान् जगाम् (३. २. ११५) यहांपर बहुवचन के प्रयोग से तथा कैयट के कथनानुसार खण्डिक, कलिंग भीं जनपद थे। कोई मनुष्य खण्डिक तथा कलिंग में गया था जब वह लौट कर घर आया तब उस से किसी ने पूछा कि क्या तूं खण्डिक तथा कलिंग में गया है। वह कहता है कि मैं नहीं गया. अतः इस प्रकार जाने का अत्यन्त अपलाप करने के यह प्रयोग देने से पता लगता है कि इन देशों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उनमें आर्यों का जाना निषिद्ध था. इससे यह भी परिणाम निकलता है कि कलिंग, खण्डिक दोनों देश आर्यावर्त के बाहर थे।

VI सुह्म, पुण्ड्र, गान्धार (कन्धार) वासात, शैव (४. २. ५२) पांचाल, विदेह, पाण्डु, पुरु, (४. १. १६८) अंवष्ठ, सौवीर नैष, अवन्ति (मालव) कुन्ती (४. १. १७०) जिल्ह्व, इक्ष्वाकव (४. २. १०४) त्रिगर्त (४. २. १३७) यह सब जनपदों के नाम हैं।

VII ब्राह्मणक नामी जनपद था जिसमें आयुध जीवी ब्राह्मण रहते थे. (४. १. १०४)

VIII आष्टक नाम एक मरुस्थल का था (४. २. १०४)

IX सुराष्ट्र जनपद आर्यावर्त की सीमा से बाहर था, क्योंकि भाष्यकार दोनों में भेद करते हुए दिखाते हैं कि सुराष्ट्र में हम्मति प्रयुक्त होती है परन्तु आर्यों में गम धातु प्रयुक्त होती है।

३. नगर—भाष्यकार ने कुछ एक नगरों के नाम भी दिये हैं जो कि उस समय के प्रसिद्ध २ प्रदेश होंगे. वह नाम यह हैं।

I शौर्य, जाम्बव, पाटलिपुत्र (३. ४. ७-) उज्जयिनी, माहिष्मती (३. १. २६) गवीधुमान्, सांकाश्य (इन दोनों नगरों में ४ योजन का अन्तर था (२. ३. २८) शौवहान (७. २. ८) हास्तिनपुर, वाराणसि (यह दोनों नगर गंगा के तट पर थे (२. १. १६) स्रुघ्न, साकेत (१.३.२५.) कौशाम्बी (१. २. ४४) यह सब नगर थे।

II काशी (वाराणसी) और मथुरा वस्त्र के व्यापार के लिये प्रसिद्ध नगर थे, क्योंकि पतंजलि मुनि "एवं हि दृश्यते लोके इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योघों भवति काशिकस्या न्यो माथुरस्य,, (५. ३. ५५) यहां पर गुण प्रकर्ष के कारण वस्त्र का भिन्न २ मूल्य बताते हुए निर्देश करते हैं कि उस काल में यह दोनों देश वस्त्र के लिये प्रसिद्ध थे. और काशी के विषय में तो "वणिजो वाराणसीं जित्वरी त्युपचर्यते" (४. ३. ८४) से वाराणसी की वणिग् लोगों द्वारा प्रचलित की हुई जित्वरी संज्ञा को बता कर महर्षि स्पष्टतया दर्शाते हैं कि उन के काल में काशी नगरी तो व्यापार में बहुत ही उन्नत थी. और हम भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व तक देखते हैं कि यह नगरी समृद्धि तथा शिल्प में सारे उत्तरीय भारत में एक थी. इस बात की साक्षि के लिये मैं सुप्रसिद्ध

भारत भूषण ऐतिहासिक रमेशचन्द्र दत्त की सम्मति आपके सामने रखता हूं. वह लिखते हैं:—

१८ वीं शताब्दि में उत्तरीय भारत में जोकि बहुत थोड़े भिन्न २ राज्यों (States) में बंटा हुआ था-अन्य कोई इतना अधिक हरा भरा तथा समृद्धि संपन्न देश नहीं था जितना कि बनारस. बनारस के मनुष्य बड़े शिल्पी थे और वहां की कृषि तथा कला कौशल खूब समृद्ध था (India under early British rule)

षष्ठ निश्वास ।

सभ्यता १. मनुष्य का यह कर्तव्य समझा जाता था कि जब उसका कोई बन्धु या मित्र उसके घर से अन्य किसी नगरादि प्रदेश में जावे तो वह उसके साथ कम से कम जंगल या नदी के अन्त तक उसे विदा करने के लिये जावे।

२. कांसी के पात्र भोजनादि के लिये प्रयुक्त होते थे।

३. स्थल पर आने जाने के साधन उन दिनों मुख्यतः रथ, शकट और अश्व ही थे. रथ में बैल जोड़े जाते थे, और शकट में आठ २ बैल भी लगाये जाते थे, सब से अधिक शीघ्र लेजाने वाला साधन रथ ही था इससे पाठकगण अनुमान कर सकते हैं कि स्थान से स्थानान्तर में जाने को कितने अधिक दिन लगते होंगे ? और किस प्रकार परस्पर में मिलने के सुगम साधन न होने से पुरुषों को अनेक कठिनाईयें होती होंगी ?

४. जल मार्ग से भी लोगों का गमना गमन रहता था और उसका साधन उडुप (छोटी नौका) तथा नौकायें थी. नदियों

---

१. लोके आवनान्ता दा उदकान्तात्प्रियं पान्थ मनुव्रजेत् (१. ४. ५६)

२. काँस पात्र्यां पाणिनौदनं भुंक्ते ।

३. ऊढोरथो येन उढ़रथोऽनड्वान् (२. २. २४) अष्टा गवेन शकटेन (६. ३. ४६) तमेवाध्वानं रथिक आशु गच्छति आश्वि कश्चिरेण पदातिश्चिरतरेण (१. १. ७०)

४. वारि पथेन गच्छति वारि पथिकः (५. १. ७७) पंचो डुपशतानि तीर्णानि, पंचवर्धीशतानि तीर्णानि, (५. १. ५६)

के पार उतरने के लिये पुल तो होते हीं थे परन्तु पता लगता है कि यहां पुल न बंध सकते थे वहां केवल चर्म की रज्जु के सहारे भी पार उतारा जाता था जैसे कि अब भी कहीं २ झूलों द्वारा पार उतरने का रिवाज विद्यमान है।

५. उन दिनों गुरुयों के कुलों में विद्याध्ययन करने की पाठ प्रणाली का अच्छी तरह प्रचार था. परन्तु जो विद्यार्थी एक ही गुरुकुल में चिरकाल तक न रह कर बार २ भिन्न २ गुरुकुलों में जाता था उसे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उसे तीर्थ काक (तीर्थ का कौवा) के नाम से पुकारा जाता था।

६. पहरने के लिये सुवर्ण के रुचक (बीजपूर या चौक) स्वस्तिक (कण्ठ का भूषण) कड़े, कुण्डल आदि भूषण बनाये जाते थे।

७. घोड़ों पर चढ़के भी संग्राम किया जाता था और युद्धों में तलवार तथा धनुषबाणों से उपयोग लिया जाता था- तीरों की मार एक २ कोश तक होती थी. वायु पुराण (अ० ८- श्लो० १०२–१०७) में लम्बाई मापने का मान प्रादेश से लेकर योजन तक दिया है जिसका हिसाब करने से १ क्रोश आज-कल के १ मील और २१२ $\frac{२}{९}$ गज के बराबर बैठता है. यदि

---

५. देवदत्तस्य गुरुकुलम्. पश्य देवदत्त कष्टं श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम् २.१. १.४२।

६. तथा सुवर्णं कया चिद्राकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डा कृति मुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते इत्यादि १. १. १।

७. अश्वै र्युद्धम्, असिभिर्युद्धम्, इहस्थोय मिष्वासः क्रोशा ल्लक्ष्यं विध्यति. (२. ३. ७)

गृह कोश वही कोश हैं तो हम कह सक्ते हैं कि उन दिनों **तीरों की मार कम से कम आधुनिक १ $\frac{१}{८}$ मील तक पहुंचती थी।**

८. पंचभिः खट्वाभिः क्रीतः पटः पंच खट्वः (४. १. ३)
मुद्गैः क्रीतम् मौद्गिकम्, माषिकम् (५. १. ३७)
पंचभिः गोभिः क्रीतः पंचगुः दशगुः १. २. ४४)

इत्यादि प्रयोगों में खाट, मूंग, माष, गौ आदिकों से वस्तुओं के खरीदने का वर्णन आने से पता लगता है कि अभी प्रतिदान (Barter) की रीति बहुत प्रचलित थी. परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि साथ ही धातु का सिक्का भी प्रचलित होता था और उसे ही वस्तुओं के खरीदने का साधन माना जाता था. पतंजलि कार्षापण को **निमान** (सिक्का) के शब्द से पुकारते हैं और उस की व्युत्पत्ति येन अधिगम्यते तन्निमानम् (५. २. ४७) करते हैं, जिस को कैयटने **"येनाल्पेनकरणेन ऋर्थ्यंप्राप्तुमिष्यते"** कहकर और भी स्पष्ट कर दिया है.

कार्षापण से आधे सिक्के का नाम अर्ध था जिसका निर्देश कैयट अर्द्ध की टीका करते हुए "अर्धशब्दः कार्षापणस्यार्धे रूढः" इस वाक्य में करते हैं. इन दो सिक्कों के अतिरिक्त एक और सिक्का था जिस का नाम निष्क था. परन्तु निष्क तथा कार्षापण के मूल्यों में क्या संबन्ध था इस का कुछ पता नहीं चलता. भाष्यकार ने बताया है कि प्राचीनकाल में कार्षापण का भार १६ माषे होता था,[१] जिस से पता लगता है कि कार्षापण सिक्के में १६ माषे सोना होता था. यदि इस माषे का भार आजकल के माषे के बराबर हो तो कार्षापण

---

१ पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणम् १. २. ६४।

सिक्का आजकल के पौण्ड से पौने तीन गुना बैठता है इस से विचारशील पुरुष जान सक्ते हैं कि उस काल में यह देश कितना समृद्ध तथा वैभव संपन्न होगा. संसार भर में प्रसिद्ध इंगलैण्ड जैसे समृद्धतम देश में भी जब अभी तक लगभग ६ माषे का सिक्का चलता है और वह भी कुछ व॰ से ही तो यहां १६ माषे सिक्का चलता था उस की कितनी समृद्धि थी और वह देश सभ्यता में कितना अधिक बढ़ा हुआ था इसका अनुमान अर्थशास्त्रवेत्ता लोग स्वयं कर सक्ते हैं. परन्तु शोक है कि पतंजलि के समय वह सिक्के किस धातु के बने हुए थे और उन में कितनी मात्रा में धातु पाई जाती थी इस विषय पर भाष्य से किंचिन्मात्र भी प्रकाश नहीं डलता, अतः हम सिक्कों का इतिहास समय २ पर बदलते रहने के कारण ऊपर लिखे हुए सिक्कों के मूल्यों का कुछ भी निर्णय नहीं कर सक्ते. परन्तु इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि सोना वस्तुयें खरीदने के लिये अवश्य प्रयुक्त होता था, जिस की साक्षि द्विद्रोणेन हिरण्येन धान्यंक्रीणाति, पंचकेन पशून्, साहस्रेण हिरण्येनाश्वान् क्रीणाति (२. ३. १८) इस वाक्य तथा मूर्ति पूजा में दिखाये हुए मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिः इस वाक्य से होती है.

९. उस समय भी मजदूरों की भृति आजकल की न्याई सिक्के का चौथा भाग थी. जैसे आजकल भारत वर्ष में मजदूरों की दैनिक मज़दूरी प्रायः—खासकर ग्रामों या साधारण नगरों में--एक रुपये का चौथा भाग चार आने होती है उसी प्रकार पतंजलि के समय भी प्रचलित सिक्के का चौथा भाग मजदूरी में मिलता था. इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में चिरकाल से मजदूरों की भृति की मात्रा स्थिर रही है. हां! यह हो सक्ता है कि उस समय वस्तुयें सस्ती

---

९ कर्मकराः कुर्वन्ति पादिक महर्लप्स्यामह इति १. ३. ७२ ।

होने से आज कल की अपेक्षा उन चार आनों से अधिक भोग्य वस्तुयें वह खरीद सक्ते हों और इस से उन की यह चार आने की भृति आजकल की अपेक्षा अधिक पड़ जाती हो.

सप्तम निश्वास।

धार्मिक अवस्था. १. महाभाष्य के अध्ययन से इस बात पर बड़ी अच्छी तरह प्रकाश डलता है कि उस समय श्राद्ध की रीति पूरी तरह प्रचलित हो चुकी थी.

I भाष्य में लिखा है "श्राद्धाय निगर्हते" (१. ४.३२) इस पर कैयट लिखता है "श्राद्धंनिन्दति नास्तिकत्वादित्यर्थः" अर्थात् नास्तिक होने से श्राद्ध की निन्दा करता है, इस प्रकार कैयट तो टीका करते हुए यहां तक बढ़े हुए हैं कि जो श्राद्ध की निन्दा करता है वह नास्तिक है.

II दूसरे स्थान पर भाष्यकार "श्राद्धकरः, पिण्डकरः (३. २. १४) प्रयोग देते हुए और भी स्पष्ट कर देते हैं कि पितरों को पिण्ड भी दिये जाया करते थे.

III और तीसरे स्थान पर अन्न का निरादर करते हुए कहते हैं " नत्वान्नं मन्ये यावद् भुक्तं न श्राद्धम् (२. ३. १७) अर्थात् मैं उस अन्न को अन्न नहीं समझता जबतक कि वह श्राद्ध में न खाया जावे.

२. भाष्यकार ने देवपूजा के उदाहरण आदित्यमुपतिष्ठते, चन्द्रमसमुपतिष्ठते (१. ३. २५) दिये हैं जिस से पता लगता है कि उस समय सूर्य और चन्द्र की पूजा प्रारम्भ हो गई थी.

३. आम्राश्च सिक्ताः, पितरश्चप्रीणिताः (१.१.१) इस वाक्य से यह परिणाम निकलता है कि उस समय मृत पितरों को जल से

तर्पण भी किया जाता था और आम के वृक्ष को जल देने से उस तर्पण की सिद्धि मानते थे.

४. तीर्थों पर स्नान करना भी धर्म का एक मुख्य अंग समझा जाता था, जिस की साक्षि निम्न लिखित श्लोक से मिलती है.

उपास्नातं स्थूलसिक्तं तूष्णींगंगं महाहूदम्
द्रोणं चेदशको गन्तुं मात्त्वा ताप्सां कृता कृते २. २. २९

इस श्लोक में तीर्थ स्नान की प्रशंसा करते हुए कहा है कि यदि तू उपास्नात, स्थूलसिक्त, तूष्णींगंग, महाहूद, द्रोण इन पांच तीर्थों में जासका है तो तुझे अपने सुकृत दुष्कृत मत तपावें. और दूसरे स्थान पर स्नात्वा कालकः (७. १. ३७) के प्रयोग से ज्ञात होता है कि कालक भी एक तीर्थ था ।

५. आस्तिक का अभिप्राय उस समय केवल परलोक की सत्ता मानने में ही लिया जाता था वेदों या ईश्वर को मानने अर्थ में नहीं लिया जाता था. यद्यपि भाष्यकार ने तो स्पष्टतया कुछ नहीं दिया परन्तु कैयट उसकी टीका करते हुए यही लिखता हैं कि परलोक की सत्ता ही लेनी चाहिए क्योंकि लोक में इसी अर्थ में आस्तिक, नास्तिक शब्द प्रयुक्त होते हैं. यदि टीका कार का यह कहना ठीक है तो हम उपरोक्त ही परिणाम पर पहुंच सक्ते हैं. और इस बात में तो किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि कम से कम कैयट के समय तो आस्तिक शब्द अवश्य उपरोक्त अर्थों में ही प्रयुक्त होता था. पतंजलि का वचन यह है—अस्तीतिमतिरस्यास्तिकः (४. ४. ६०) उस पर कैयट लिखता है—**परलोक कर्तृका च सत्ता विज्ञया तत्रैव विषये लोके प्रयोग दर्शनात्.** तेन परोलोकोऽस्तीत्यस्यमतिः आस्तिकस्त द्विपरीतो नास्तिकः ।

६. उस समय मांस भक्षण को पाप नहीं समझा जाता था प्रत्युत धर्म ग्रन्थों के अनुसार उसका सेवन किया जाता था.

I पंचपंचनखाः भक्ष्याः, अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्य सूकरः (१. १. १) यह विधान देते हुए पतंजलि दर्शाते हैं कि पांच नखवाले प्राणि भक्ष्य हैं और ग्रामीण कुक्कुट तथा सूकर अभक्ष्य हैं अर्थात् आरण्यक कुक्कुट और आरण्यक सूकर भक्ष्य हैं।

II और यह कई जगह वारम्वार आया है कि तथा कश्चित् मांसार्थी मत्स्यान् सशकलान् सकण्टकानाहरति........यावदादेयं तावदादाय शकलकंटकानुत्सृजंति. (३. ३. १८) यहां पर मच्छी खाने का वर्णन है ।

III मांसौदनिकोऽतिथिः (५. १. १९) यहां पर अतिथि को मांस युक्त ओदन खिलाये जाते हैं ।

VI मांसौदनाय व्याहरतिमृगः (२. ३. १३) यहां पर मृग के शव्द करने से उत्पात ज्ञात होता है अतः मांसौदन में चतुर्थी विभक्ति की गई, जिसका भावार्थ यह है कि मांसौदन वनाने के लिये दीन मृग का वध किया जाता है ।

७. यज्ञों में पशु वध भी किया जाता था जिसकी सिद्धि इन वाक्यों से होती है।

I उपहृतः पशूरुद्राय उपहृत पशुरुद्रः (४. २. २४) यहां पर रुद्र देवता के लिये पशु उपहृत किया जाता है ।

II पशुना रुद्रं यजते, पशुंरुद्रायंददातीत्यर्थः, अग्नौकिल पशुः प्रक्षिप्यते रुद्रायोपह्रियते इति (१. ४. ३२) अर्थात् पशु से रुद्र का यज्ञ करता है, पशु रुद्र को देता है—अग्नि में पशु को फैंकता है—रुद्र के लिये उपहृत किया जाता है ।

III गौरनुवन्ध्यो ऽजोग्नीषोमीय इति कथमाकृतौचोदितायां . द्रव्ये आरम्भणा लम्भन विशसनादीनि क्रियन्ते इति (५. १. ५९) २. १. ५११४. १९२) अर्थात् वैल और अग्नी सोम देवता के लिये वकरा वध्य है, यहां पर आकृति में हननक्रिया कहने पर द्रव्य में आरम्भण, आलम्भण (स्पर्शन) तथा हनन क्रियायें कैसे की जाती हैं ।

पाठक गण ! यह तीनों वाक्य इतने स्पष्ट और असंदिग्ध हैं कि इन में हमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता, प्रथम और द्विती-य वाक्य में रुद्र देवता के लिये पशु की अग्नि में आहुति की जाती है और तृतीय वाक्य यें वैल और वकरे का भिन्न २ देवताओं के लिये वध किया जाता है ।

८. ब्राह्मण का वध करना तथा सुरा (मद्य) का पीना वहुत ही घृणित तथा पतित काम समझा जाता था, और महाभाष्यकार तो "योब्र-जानन् वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरांवापिवेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् (१. १. १) कहते हुए इतने वढ़े हुए दीखते हैं कि वह जो मनुष्य अज्ञान के कारण भी ब्राह्मण को मारदे या मद्य पीले तो उसको भी क्षमा करने को तय्यार नहीं, उनके मत में यह मनुष्य भी घृणित तथा पतित ही समझा जाना चाहिए ।

९. त्रिविप्टब्धकं दृष्ट्वा परिव्राजक इति (३. २. १२४) इस वाक्य से पता लगता है कि परिव्राजक का चिन्ह त्रिदण्ड था वह सदा अपने पास त्रिदण्ड रखते थे, परन्तु हमें पता है कि त्रिदण्ड केवल वैष्णव परिव्राजक ही रखते हैं और वही त्रिदण्डी कहलाते हैं, अन्य परिव्राजक एक दण्डी होते हैं अत: इससे यह परिणाम निकलता है कि पतंजलि के समय **वैष्णव धर्म भी प्रचलित हो चुका** ।

१०. महाभाष्य के पढ़ने से पता लगता है कि ग्रन्थकर्ता के समय मूर्तिपूजा का भी अच्छी तरह प्रचार हो चुका था, इसके पूर्व कि मैं ग्रन्थकर्ता का प्रमाण देकर उपरोक्त बात को सिद्ध करूं, उस को स्पष्ट करने के लिये पहले उस मूल सूत्र का अर्थ कर देना अत्यावश्यक जान पड़ता है जिसके कि भाष्य से मुख्य परिणाम निकाला जाना है, वह सूत्र जीविकार्थेचापण्ये (५. ३. ९९) है उस का अर्थ यह है कि ऐसी प्रतिकृति (मूर्ति) जो किसी मनुष्य की जीविका के लिये तो हो परन्तु यह बेची न जा सके तो उस मूर्ति को बताने वाले शब्द के कन् प्रत्यय का लोप हो जाता है, (जो कि इवे प्रतिकृतौ इस सूत्र से हुआ था.) इस पर भाष्यकार लिखते हैं "अपण्ये इत्युच्यते तत्रेदं नसिध्यति शिवः स्कन्दो विशाख इति, किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्याः प्रकल्पिताः भवेत्तासु नस्यात् यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति" अर्थात् यदि तुम यह कहते हो कि जो मूर्ति बेची जावे उसको बतलाने वाले शब्द के कन् प्रत्यय का लोप हो तो शिवः, स्कन्दः, विशाखः, यह रूप नहीं बनेंगे परन्तु कन् का लोप न होने से शिवकः, स्कन्दकः विशाखकः यह रूप बनेंगे क्योंकि सोना लेने की इच्छा से मौर्यलोग इनकी मूर्तियें बेचते हैं, भाष्यकार इसका उत्तर देते हैं कि अच्छा जो बेची जाती हैं वहां कन् का लोप न हो परन्तु अपनी जीविका के लिये लोग जिन शिव, स्कन्द, विशाख की मूर्तियों को लेकर घर २ जाते हैं और उनकी पूजा करवा घर वालों से कुछ धन लेते हैं वहां कन् का लोप होकर शिव, विशाख, स्कन्द रूप बन जावेंगे, इस से यह बात स्पष्टतया सिद्ध हो गई होगी कि उस समय मूर्ति पूजा केवल चली ही नहीं थी प्रत्युत वह अपनी पूर्ण यौवनावस्था में पहुंच चुकी थी, और शिव तथा उसके पुत्रों स्कन्द और विशाख की पूजा होने से दूसरी

बात यह भी सिद्ध होती है कि उस समय **शैव मत भी प्रच-लित हो चुका था।**

अष्टम निश्वास।

सामाजिक स्थिति. १.—उस समय अभी गुण कर्म स्वभाव से भी वर्ण व्यवस्था मानी जाती थी केवल जन्म से नहीं, परन्तु गुणों में वाह्याडम्बर या शारीरिक सौन्दर्य का भी होना एक आवश्यक अंग समझा जाने लग पड़ा था, पतंजलि लिखते हैं सर्वे एते-शब्दा: गुण समुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मण:, क्षत्रियो वैश्य इति, आतश्च गुण समुदायें, एवंह्याह.

तपः श्रुतंच योनिश्च एतद् ब्राह्मण कारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एवसः॥

तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिल केशः इति एता नप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणानूकुर्वन्ति. (५. १. ११५। २. २. ६) इस पर कैयट श्लोक की टीका करते हुए लिखते हैं "नासौ परिपूर्णो ब्राह्मणः, जातिलक्षणैकदेशाश्रयस्तु तत्र ब्राह्मण शब्द प्रयोगः अतएव च तस्य सर्वासु ब्राह्मणक्रियासु नास्त्यधिकारः" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शब्द भिन्न २ गुणों के कारण भिन्न २ पुरुषों में व्यवहृत होते हैं, जिनमें ब्राह्मण के गुण देकर स्पष्ट किया है कि ऐसे गुण वाला पुरुष ही ब्राह्मण कहला सकता है अन्य नहीं, प्राचीन किसी धर्म ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मण के गुण तपस्वी तथा वेद वेदांगवित् होना तथा ब्राह्मण माता पिता से होना जतला कर कहा है कि जो मनुष्य तपस्वी तथा वेद वेदांगवित् नहीं वह पूरा ब्राह्मण नहीं कहला सकता प्रत्युत वह केवल जाति ब्राह्मण या जन्म से ब्राह्मण है अतएव उसे ब्राह्मण के पूरे अधिकार नहीं परन्तु इन तीनों गुणों के आगे वह कुछ अन्य गुण देते हैं जिससे पता लगता है कि पतंजलि

के समय उन गुणों का होना भी आवश्यक समझा जाता था—और एक ब्राह्मण की पहचान के लिये वही गुण कसौटी समझे जाते थे जैसा कि वह आगे जाकर स्वयं लिख देते हैं कि संदेहाचावद् गौरं, शुच्याचारं, पिंगलं, कपिल केशं दृष्ट्वाऽध्यवस्यति ब्राह्मणोऽय मिति, ततः पश्चादुपलभ्यते नायं ब्राह्मण इति. वह गुण गौर या पिंगल रंग (श्वेत मिश्रित लाल) वाला होना और शुद्धाचारी तथा भूरे केशों वाला होना था इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणपद की निश्चिति में वाह्याडम्बर या काले गोरे का प्रश्न भी भाष्यकार के समय बड़ा प्रबल होगया था, जो ब्राह्मण शुद्धाचारी, तपस्वी और वेदज्ञ होता हुआ भी यदि काला या कपिल केशों से भिन्न केशों वाला होता होगा शायद उसे वैसी मान्य की दृष्टि से नहीं देखा जाता होगा जैसा कि एक गोरा ब्राह्मण देखा जाता है आज कल यह भारतीयों को सूझ रहा है कि काले गोरे का प्रश्न उड़ा देना चाहिए परन्तु शोक ! कि यह प्रश्न हमारी प्यारी मातृ भूमि में कई शताब्दि पहले हमारे ही भारतीयों से उठाया गया था. इस काले गोरे के राक्षसी प्रश्न से जब हमारे भारतीय भाई आज कल देश, विदेश सर्वत्र ठोकरें खाते फिरते हैं तो समझ सकते हैं कि यही दशा उस समय भी बेचारे काले पुरुषों के साथ होती होगी जिसका हमें एक ज्वलन्त दृष्टान्त ब्राह्मण चाणक्य का मिलता है. और मैं समझता हूं कि प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था का नियम इस प्रकार न था कि जो मनुष्य जाति से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता हुआ भी ब्राह्मण के गुण धारण करले वह अपनी जाति को छोड़ कर ब्राह्मण बन सकता था परन्तु नियम यह था कि जो जाति ब्राह्मण, जाति क्षत्रिय, जाति वैश्य अपने २ गुण अपने में नहीं रखता था वह सच्चे ब्राह्मण, सच्चे क्षत्रिय या सच्चे वैश्य पद से च्युत होकर केवल जाति ब्राह्मण जाति क्षत्रिय **या** जाति वैश्य रह

जाता है, उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त थे परन्तु कुछ एक ही अधिकार प्राप्त कर सकते थे, इस बात की पुष्टि **"जाति ब्राह्मण एवसः" इस वाक्य से पूर्णतया हो जाती है.**—और फिर यदि हम प्राचीन धर्म सूत्रों तथा स्मृति ग्रंथों पर दृष्टि डालें तो कुछ एक अपवादों को छोड़ कर सामान्यतः सर्वत्र भिन्न २ वर्णों के लिये प्रारम्भ से ही भिन्न २ नियमों का विधान पाते हैं विस्तार भय से अति संक्षेप रूप में वह भिन्नतायें निम्न लिखित चित्र से प्रदर्शित की जाती हैं: (१)

नियम	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
१. उपनयन	वसन्त में	ग्रीष्म में	शरद् में	उपनयन नहीं करा सका नोहीं वेदाध्ययन कर सका है, प्रत्युत उलटा यदि वेद पाठ सुन भी ले तो उसके कान त्रपु जतुसे भर दिये जाते हैं।
"	आठवें वर्ष	११ वें वर्ष	१२ वें वर्ष	
"	१६ वर्ष के पहले	२२ वर्ष के पहले	२४ वर्ष के पहले	
मेखला	मुञ्जकी	ज्या की या लोह मिश्रित मुंज की	ऊनकी	

(१) आपस्तम्ब धर्म सूत्र १, २, ३ कण्डिका
मनुस्मृति २, ३६-४६
याज्ञवल्क्यस्मृति ३ ७ श्लोक
वसिष्ठस्मृति ११. ६४

दण्ड	पलाश का	न्यग्रोध का	बदरि या उदु-म्बर का
वस्त्रकारंग	काषाय	मांजिष्ठ	हारिद्र
चर्म	काले हरिण का	रुरु मृग का	बकरे का
भिक्षा याचन की विधि	भवती भिक्षां देहि	भिक्षां भवती देहि	भिक्षां देहि भवती

इस चित्र से स्पष्ट है कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के बच्चों को प्रारम्भ से ही उनमें भेद भाव डाल कर ऐसी अवस्थायों में पाला जाता है कि जिससे उनके मन में ऊपर उठने का भाव ही न आ सके और उन्हें इस प्रकार अनुत्साहित कर अपनी ही जाति में रहने को बाधित किया जाता है।

II ब्राह्मण के कर्तव्य कर्म भाष्यकार ने अन्यत्र भी दर्शाये हैं, वह कहते हैं ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो

गोभिलगृह्यसूत्र १ प्रश्न, ४ प्रकरण
पारस्कर गृह्यसूत्र २. २-४
बौधायन धर्म सूत्र १. २ अध्याय
पराशर संहिता २ अध्याय
बौधायन गृह्यसूत्र २. ५ अध्याय

ज्ञेयश्चेति (१. १. १) अर्थात् ब्राह्मण का निष्कारण धर्म षडंगों सहित वेदों का पढ़ना या जानना है ।

III तीसरे स्थान पर ब्राह्मण का लक्षण वह यूं करते हैं:—

एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भी धान्याः, अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गताः तत्रभवन्तः शिष्टाः (६. ३. १०८)

इसमें पतंजलि ने शिष्टों का लक्षण करते हुए ब्राह्मणों को कुम्भी-धान्य—अर्थात् जिन के पास भोजनार्थ धान्य भी केवल इतना ही है जो कि कुम्भी में आसके अधिक नहीं—लोभ रहित, किसी दृष्ट कारण के विना ही सदाचार के मार्ग पर चलने वाले तथा किसी एक विद्या में अति निपुण होना बताते हैं ।

२. किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति (१. १. १) कहते हुए महर्षि बतलाते हैं कि यह उस समय प्रसिद्धि थी कि प्राचीन पुरुषों की आयु बहुत बड़ी २ होती थी परन्तु अब अधिक से अधिक १०० वर्ष की आयु रहगई है ।

३. लोहितो ष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति (२. २. २४) इससे पता लगता है कि उस समय ऋत्विग् लोग रक्तवर्ण की पगड़ी पहनते थे ।

४. पतंजलि के समय भारत में नाटक खेलने का भी बड़ा प्रचार था. वह कहते हैं यदारम्भकाः रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामः ग्रन्थिकस्यश्रोष्यामः (१. ४. २९) यहांपर साधारण मनुष्य नट और ग्रन्थिक को सुनने के लिये जाते हैं ।

II ये ताव देते शौभिका नाम एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति वलिंच बन्धयन्ति (३. १. २६) यहां पर कंसादिकों

का अनुकरण करने वाले नटों के शिक्षक कंस और वलि का घात करके दिखलाते हैं।

III भ्रुकुंस शब्द स्त्री वेषधारी नट के लिये आया है (४. १. ३)

IV और इसी प्रकार रंगमें जाने वाली नटों की स्त्रियों का वर्णन आया है (६. १. २) इन चार प्रमाणों से स्पष्ट है कि नाटक खेले जाते थे और उनमें से दो प्रसिद्ध नाटक कंस और वलि वध के थे।

५. भाष्यकार निवास स्थान चार प्रकार के वताते हैं—ग्राम, घोष, नगर और संवाह (७. ३. १४ / २. ४. १०) इस की टीका करते हुए कैयट लिखता है "ब्राह्मण कर्षक पुरुष प्रधानो देशो ग्रामः, गोमहिष्यादि युक्तो घोषः, प्राकार परिखान्वितं श्रणी धर्म युक्त संस्थानं नगरम्, प्राकार परिखा युक्त श्रेणी धर्मान्वितो देशः संवाहः और दूसरे स्थान पर संवाह का अर्थ "संवाहो वणिक् प्रधानः" करते हैं. अर्थात् यहां पर मुख्यतः ब्राह्मण और कृषकों का निवास हो वह ग्राम, गौ भैंस आदि पशुओं के रहने का स्थान घोष, और जिस प्रदेश के समन्ततः शहर पनाह और खाई हो और साथ ही यहां क्रय विक्रय का व्यवहार होता हो वह नगर कहलाता था. संवाह भी एक प्रकार का नगर ही था भेद केवल इतना था कि संवाह में व्यापारादिक अधिक होने से वह वणिक् प्रधान नगर होता था. उपरोक्त कथन से उस समय की सामाजिक स्थिति के विषय में दो बड़े २ परिणाम निकलते हैं।

I प्रथम तो यह कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण यद्यपि इकट्ठे एक ही प्रदेश में रहते थे तोभी उनकी प्रधानता

भिन्न २ स्थानों में होती थी. ब्राह्मण ग्राम में, क्षत्रिय नगर में, और वैश्य संवाह में प्रधान थे।

II और दूसरा यह कि उन्हों ने शत्रुयों से अपने जान माल की रक्षा करने के लिये प्रत्येक नगर और संवाह के समन्ततः शहरपनाहें और खाईयें बनाई हुई थीं: और इतिहास हमें बताता है कि वह मुसलमानों के राज्यारम्भ तक बराबर उपस्थित थी:

६—उस समय गुरु शिष्य का संबन्ध एक आदर्श संवन्ध था, वह आज कल की न्याईं स्वार्थ या अन्य तुच्छ भावों से प्रेरित होकर नहीं बनाया जाता था, परन्तु उस संवन्ध का आधार धर्म और प्रेम था. अतएव गुरु का कर्तव्य होता था कि जैसे छतरी धूप या वर्षा से छत्र धारण करने वाले को बचाती है वैसे वह शिष्य को अज्ञान, गिरावट आदि से बचाता हुआ उसे विद्वान, बुद्धिमान् वलिष्ठ तथा सदाचारी बनावे. और इसी प्रकार विद्यार्थी का कर्तव्य होता था कि जिस प्रेम से छतरी की सुरक्षा की जाती है उसी प्रेम से गुरु की सदैव सुरक्षा करता रहे, उस के दोषों को अन्यों में फैलाता न रहे प्रत्युत उन्हें दबाने का यत्न करे. (४.४.६२) इसी प्रकार यदि अब भी गुरु शिष्य अपने कर्तव्य समझें तो विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के प्रायः सर्वदोष दूर हो जावें और शिक्षा की उन्नति का द्वार खुल जावे पर हा! अब यह बातें स्वप्न की ही रह गईं.

७. जैसे मैं पहले कह चुका हूं कि पतंजलि के समय ब्राह्मणत्व का निश्चय करना बहुत कुछ गौरादि वाह्याडम्बरों पर निर्भर होगया था तो यदि उस समय भारत में जात पात और छूत छात भी प्रचलित होगई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं. गर्गजाति जो पहले अच्छी समझी जाती थी उस समय

घृणा की दृष्टि से देखी जाने लग पड़ी थी, अतएव उस के विषय में कहा गया है कि गर्गैः सह न भोक्तव्यम् (८. ४. २) अर्थात् गर्गों के साथ नहीं खाना चाहिए. और इसी प्रकार शूद्राणामनिरवसितानाम् (२. ४. १०) इस सूत्र में बतलाया है कि यदि चण्डाल या डूम्ब (मृतप) किसी के पात्र में रोटी खा ले तो वह पात्र फिर किसी भी प्रकार शुद्ध नहीं हो सक्ता. इस से पता लगता है कि जिन बेचारे डूम्बों की दशा सुधारने का बीड़ा पंजाब में आज कल कई सज्जनों ने उठाया है उनको अछूत जाति समझ कर कई शताब्दियें पहले ही रसातल में गिरा दिया था. इसी प्रकार तरखान लुहार, धोबी तथा जुलाहों को शूद्र कोटि में डालकर यज्ञों से पृथक् किया हुआ था. आभीर जाति जिसको आज कल आहीर कहते हैं उसे महा शूद्रा के नाम से पुकारा जाता था क्योंकि वह शूद्र से भी निकृष्ट समझते जाते थे. (४. १. ४.। १. २. ७२) हा ! कैसा भयंकर और हृदय विदारक दृश्य है. ऐसा कौन वज्र से भी कठोर हृदय होगा जिसे इन दीनों और अनाथों पर दया न आती होगी. दयालु प्रभु ने अपने सब पुत्रों पर दया करके कोढ़ी से लेकर महाराजाधिराज तक सब को एक जैसा शीतल जल वायु, सूर्य का देदीप्यमान प्रकाश और शान्ति दायक चन्द्र की शीतलता तथा उज्ज्वल प्रकाश दिया. यही नहीं प्रत्युत

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः

ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय की ध्वनि करते हुए उन्हों ने कृपालु हृदय से सब को अपने २ शरीर, मन तथा आत्मा को उन्नत करने के लिये वेद के शीतल तथा शुद्ध स्रोत से अपनी पिपासा बुझानेकी आज्ञा प्रदान की है. परन्तु हन्त ! हम इतने तुच्छ हृदय और निर्दयी हैं कि हम अपने ही भाइयों को शूद्र २

पुकार कर उन्हें **अपनी आत्मा तक को उन्नत करने से** रोकते हैं . हमारा क्या अधिकार है कि हम एक मनुष्य श्रेणी को कृपालु परमात्मा के ज्ञान से वंचित रक्खें और उसे सर्वदा के लिये आचार हीन बनाने के लिये साधन उपस्थित करदें. मद्रास गवर्नर भारत हितैषी म्युनरो ने कहा था कि हमने (अंग्रेजों ने) भारतीयों के अधिकार छीन कर उन्हें आचार हीन कर दिया है परन्तु बड़े शोक से कहना पड़ता है कि यहां तो भारतीयों ने ही अपने बहुत से भाइयों को घृणा की दृष्टि से देखकर सदाचार से कोसों दूर फैंक दिया था. यदि हम ही अपने से कुछ दर्जे कम जाति को **मनुष्य** के अधिकारों से वंचित रखकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं तो हम किस मुख से अपने अधिकार मांगने का साहस कर सक्ते हैं, भद्र गण ! इसी जात पांत के प्रश्न ने हमारी मातृ भूमि, स्वर्णमयी भूमि, भारत भूमि को रसातल में पहुंचा दिया है और परस्पर में भेद भाव तथा घृणा की प्रवृत्तियें पैदा कर हमारे में जातीयता के बनने में बड़ी भारी बाधा डालदी है, जब एक जाति पर आपत्ति आती है तो दूसरी जाति उसकी किंचिन्मात्र भी सहायता करना अपना कर्तव्य कर्म नहीं समझती, यदि जात पांत के प्रश्न ने भारत में एक सुंदर तथा दृढ़ भवन न बना लिया होता तो कभी से शूर वीर, साहसी हीमूं से मुगल राज्य के नाश के साथ २ यावनी राज्य समाप्त होगया होता और फिर भारत में हिंदू राज्य का झंडा फहराता, और फिर उससे अगले सारे भारतीय इतिहास में जो २ परिवर्तन आने थे उसे बुद्धिमान लोग स्वयं विचार सकते हैं, *यदि मातृ भूमि तथा उस के पुत्रों की उन्नति करनी अभीष्ट है तो इस जात पांत के कलियुग का साथ छोड़कर प्रेम और सहानुभूति के सत्य युगमें अपने आप को लेजाना अत्यावश्यक है.* धन्य है उस समाज को जो कि इस

सत्य युग को लाने के लिये दिलोजान से प्रयत्न करने में लगी हुई हैं और मुझे पूर्ण आशा है कि परम पिता दयालु प्रभु इस शुभ काम में उन्हें पूर्णतया कृतकृत्य करते हुए भारत की उन्नति का द्वार खोल देवेंगे.

८. पतंजलि के समय भारतवर्ष में अनेक जातियें तथा उप जातियें उपस्थित थीं. गर्ग, डूम, अहीर, तथा चंडाल जातियें जैसे कि पहले दिखाया जा चुका है बड़ी घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं. क्षेमवृद्धि नामक एक क्षत्रिय जाति थी जिसकी स्त्रियों का नाम तनु-केशी था. और इसी प्रकार भार्य नामक भी एक क्षत्रिय जाति थी क्षुद्रक, मालव नामी जातियों के विषय में पहले लिखा जाचुका है अतः अब उनके विषय में कुछ कथन करने की आवश्यक्ता नहीं, भरतजाति भारत के पूर्व में रहती थी जिस का वर्णन करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण ने भी उसे पूर्व में ही लिखा है. इससे यह भी ज्ञात होता है कि भरत जाति का निवास स्थान जो ऐतरेय ब्राह्मण के समय था वही पतंजलि के समय था. चोल और केरल जातियें चोल, केरल देशों की रहने वाली थीं इस प्रकार भिन्न २ पेशों में काम करने तथा भिन्न २ देशों में रहने के कारण कई जातियें, उप जातियें बनी हुई थीं. पाठकगण ! जब इस प्रकार भारत में भिन्न २ अनेक जातियों की सत्ता पाई जाती हो तब कैसे संभव हो सकता है कि वहां एक जातीयता का भाव पैदा हो सके. किसी देश में जातीयता पैदा करने के लिये उस देश

---

८. क्षेमवृद्धयः क्षत्रियास्तेषां तनुकेश्यः स्त्रियः (६. ३. ३४) भार्याः नाम क्षत्रियाः (३. १. ११२)

यदि समुच्चयः भरत ग्रहण मनर्थकं नह्यत्रभरताः सन्ति. अथ प्राग् ग्रहणं भरत विशेषणं प्राग् ग्रहण मनर्थकं नह्यत्र प्राञ्चो भरताः सन्ति २. ४. ६६ ।

में एक राज्य, एक जाति, एक धर्म, और एक भाषा इन चार बातों होना अत्यावश्यक है .

परन्तु इन में से पहली दो बातें तो यहां बिलकुल नहीं रही थीं, धर्म में भी शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन, याज्ञिकादि. अनेक पंथ प्रचलित थे . भाषा में अभी कुछ समानता थी परन्तु उसमें भी शीघ्र२ अन्तर पड़ता जा रहा था, अतः भारत में जातीयता पैदा होनी सर्वथा असंभव थी. और इस समय भी भारत में यद्यपि एक राज्य तो है परन्तु अन्य तीन शर्तें पूरी नहीं. ४३ जातियें तथा २३७८ उपजातियें और १४७ भाषायें (बोलियों को छोड़ कर) अभी तक भारतवर्ष में पाई जाती हैं, और इसी प्रकार सनातनी, वैष्णव, शैव, सिक्ख, इसाई, यवन, आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी, प्रार्थना समाजी, देव समाजी आदि धार्मिक पंथ भी अनेक पाये जाते हैं अतः जब तक इन तीनों भिन्नतायों को हटाकर सारे भारत वर्ष में एक भाषा, एकधर्म, एक जाति बनाने का प्रयत्न न किया जावेगा तब तक सच्ची जातीयता की पवित्र गोद में बैठना हमारे लिये बड़ा कठिन काम ही नहीं प्रत्युत असंभव है .

निबन्ध यद्यपि बहुत लम्बा हो गया है तो भी अन्त में भाष्य की कृति पर अति संक्षेप से कुछ दो चार शब्द लिखने अत्यावश्यक अतः उसे लिखकर यह निबन्ध समाप्त करूँगा .

१. व्याकरण जैसे शुष्क विषय को विद्यार्थियों के मनों को आकर्षण करने वाला बनाना कोई सुगम काम नहीं, परन्तु पतंजलि ने इस महाभाष्य को इतना रोचक तथा दिल लगाने वाला बना दिया

है कि इसे पढ़ते समय विद्यार्थी व्याकरण की शुष्कता का अनुभव नहीं करसकता .

पतंजलि के सामने यह बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित हुआ २ था कि मनुष्य व्याकरण को तिलाञ्जलि दे चुके थे, उन्हें व्याकरण पढ़ने में रुचि नहीं थी प्रत्युत घृणा उत्पन्न हो गई थी अत:महर्षि को ऐसे साधन ढूंडने पड़े जोकि व्याकरण को रोचक बनाते हुए पाठकों के हृदयों को व्याकरण की ओर खींचें और उनकी घृणा को नष्ट करदें . वह साधन संक्षेप से यह कहे जा सक्ते हैं .

I. भाषा को अत्यन्त सरल तथा मधुर बनाया जिस से भाषा के अर्थ समझने में कोई कठिनाई न पड़े .

II. इस की लेखशैली व्याख्यान रूप में रक्खी, और स्थान २ पर बात चीत के मार्ग तथा प्रश्नोत्तर के मार्ग का अवलम्बन कहते हुए कठिन समस्यायों को सुगम किया.

III उदाहरणों तथा दृष्टान्तों के लिये सर्वसाधारण मनुष्य के प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाले प्रयोग देकर विषय को सुस्पष्ट करने का पूर्ण यत्न किया.

IV. कहीं २ पर विद्यार्थियों के स्मरणार्थ छोटा सा सूत्र या श्लोक बनाकर विस्तृत व्याख्यानों को अति संक्षिप्त कर दिया जिससे वह संक्षेप याद कर लेने से सारी लम्बी चौड़ी व्याख्या याद रह सके.

२. महाभाष्य पढ़ने का दूसरा लाभ यह है कि न केवल यह व्याकरण के ज्ञान को ही उच्च करता है परन्तु संस्कृत साहित्य की दृष्टि से भी यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है. इसकी संस्कृत इतनी सरल मधुर, व्यावहारिक तथा समयोपयोगी है कि इस के पढ़ने से संस्कृत बड़ी अच्छी बोली या लिखी जा सकती है. संस्कृत को कठिन तथा अनावश्यक लम्बे २ समासों से भरपूर बनाने का जो बहुत बड़ा दोष उत्पन्न होगया है यह इसकी लेखशैली ग्रहण करने से दूर हो सकता है, और बड़ी बात को थोड़े से शब्दों में प्रकट करने की रीति भी सीखी जा सकती है।

३. पाणिनीय व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होना वेद मन्त्रों के अर्थ करने में बड़ा आवश्यक साधन है, परंतु महाभाष्य भी मन्त्रार्थों पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है उसकी भी यदि सहायता ली जावे तो मैं समझता हूं कि हमारी बहुत सी कठिनाइयें दूर हो जावें.

भाष्य में स्थान २ पर सैंकड़ों मंत्र भागों के उद्धरण आये हैं उन में से कुछ एक उदाहरण के तौर पर मैं यहां लिखता हूं. उन में से मुझे जिन २ मंत्रखण्डों का पता लग सका कि यह किस वेद के उदाहरण हैं उसका भी पता दे दिया है, और साथ ही भिन्न २ वेद-भाष्यों के करने वालों के अर्थ भी दे दिये हैं ताकि पता लग सके कि उनके अर्थ महा भाष्य के अर्थों से कहां तक मिलते हैं, और कहांतक नहीं मिलते.

महाभाष्य	पता	भाष्यकाअर्थ		स्वामीजी	सायण	उवटऔरमहीधर
१. तुभ्येदमग्ने	६. १. ६	तुभ्यमिदमग्नये	ऋ.५.११.५	तुभ्यमिदमग्ने	तुभ्यमिदमग्ने।	
२. आव्याधिनी उगणाः	६. १. ६	सुगणाः	य.११.७७	उद्यतायुध संमूहाः		उद्गूर्णगणाः
३. मीढ्वंस्तोकाय तनयाय मृड	६. १. १२	मह्यर्थोगम्यते. महिर्दानकर्मा	ऋ.२.३३.१४	सुखसेचक।	सेचनसमर्थ।	
४. नते दिवा न पृथिव्या अधिस्नुषु	६. १. ६३	अधिसानुषु	य.१७.१४	अधिप्रान्तेषु		स्नुप्रस्रवणो.स्नुवन्ति क्षरन्तिस्नूनिस्रोतांसि चक्षुरादीनिप्राणायतनानि तेषु अधिश्रित्य
५. इयत्तु माणा भृगुभिः सजोषा	६. १. ६	व्याप्तुमिच्छन्तः	अ.४.१४.५		यष्टुमिच्छन्तः	
६. नस्तुतोवीरवद्धातु	६. १. ८	दधातु	ऋ.१.१६.८	दधातु	धारयतु	
७. इष्कर्तारमध्वरस्य	६. १. ६	निष्कर्तारम्	ऋ१०.१४.५		निष्कर्तारम्	
८. शिवाउद्रस्यभेषजी	६. १. ६	रुद्रस्य				
९. अग्निर्वाइतोवृष्टिमीट्टे	६. १. ६	प्रेरयति				
१०. पृत्सुमर्त्यम्	६. १. ६३	पृतनासु	ऋ.१.२७.७	पृतनासु	पृतनासु	

इसके अतिरिक्त कई शब्दों तथा धातुओं के ऐसे अर्थों का भी पता लगता है जो कि सामान्यतः उन अर्थों में नहीं आतीं अतः वेदार्थ करते समय उन अर्थों से भी बड़ी सहायता मिल सकती है यथा:—

I मह, मिह धातुयें दान अर्थ में (२. ३३. १४)

II कृ धातु निर्मली करण तथा रखने अर्थ में (६. १. ९)

III यज धातु व्याप्ति अर्थ में (६. १. ९)

IV ईड धातु चोदना, याञ्चा, प्रेरण अर्थ में (६. १. ९)

V हु धातु प्रक्षेपण तथा तृप्ति करने अर्थ में (२. ३. ३)

VI अग्नि होत्र शब्द हविः और अग्नि दोनों में आता है २. ३.३ इसलिये महाभाष्य पढ़ने का तीसरा बड़ा भारी लाभ यह है कि वेदार्थ करने में यह मार्ग दर्शक का बहुत अच्छा काम करता है मैं समझता हूं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने जो महाभाष्य पढ़ने पर बड़ा बल दिया है उसके मुख्य कारण यह तीन गुण हैं, अतः इन तीन गुणों से यदि हम लाभ उठाना चाहें तो महाभाष्य का पढ़ना अत्यावश्यक है और विशेषतः वेदों के अध्ययन करने वाले को इसके ज्ञान से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, इत्योम् शम् ।